

# समरथ

मई-जून 2015 ♦ नई दिल्ली

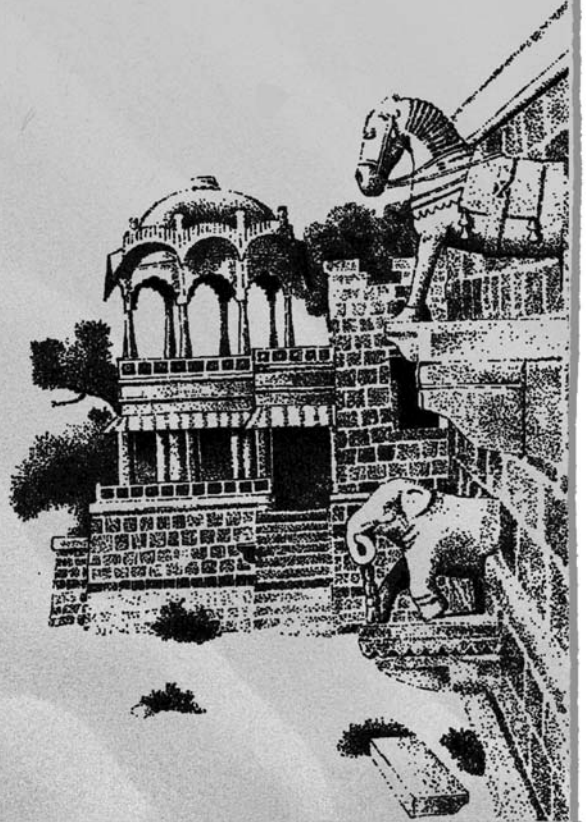


सैंकड़ों, हज़ारों तालाब,  
जोहड़, नाडी, कुएं, कुंड, बेरी,  
ऐरि आदि अचानक शून्य से  
प्रकट नहीं हुए थे ।

इनके पीछे एक इकाई थी  
बनवाने वालों की, तो दहाई थी  
बनाने वालों की ।  
यह इकाई, दहाई मिलकर सैंकड़ा,  
हज़ार बनती थी ।

पिछले दो सौ बरसों में  
नए किस्म की थोड़ी सी  
पढ़ाई पढ़ गए समाज के  
एक हिस्से ने इस इकाई, दहाई,  
सैंकड़ा, हज़ार को  
शून्य ही बना दिया है ।

यह शून्य फिर से इकाई, दहाई,  
सैंकड़ा और हज़ार बन सकता है ।



## नाहि तो जनम नसाई

भारत ! जिसके सामने आज की तारीख में अनेकानेक प्रश्न मुंह बाए खड़े हैं, अच्छे दिनों की चाह में वे यक्ष प्रश्न में तब्दील हो रहे हैं और सुरसा की भांति विकराल। फिर चाहे वे समाज में विभिन्न स्तरों पर फैलता अलगाव हो या रोजगार का टूटता आधार; शिक्षा का भगवाकरण हो या मजदूरों के अधिकारों की पैरवी करता मई माह का हनन। समाज की अवधारणा को जिस तरह से हाशिए में धकेला जा रहा है उससे लोकतंत्र और भारत एक दूसरे के धुर-विरोधी दिखाई पड़ने लगे हैं। भविष्य अंधकारमय नज़र आ रहा है, परंतु आशा का दामन थामे जहां एक ओर इतिहास के उदाहरण हमारे सामने हैं तो वर्तमान में ओड़िशा के नियमगिरि जैसे उदाहरण भी स्पंदन पैदा कर उम्मीद की किरण जगाते हैं। उम्मीद के ऐसे उदाहरण देशभर में भरे पड़े हैं। संकल्पों को ज़मीन पर उतारने के लिए ऐसे संघर्षों को सलाम करते हुए जनपक्षधरता के जुझारू पत्रकार प्रफुल्ल बिदवाई की याद में समरथ का यह नया अंक आपके सामने प्रस्तुत है।



### ■ फिराक़ गोरखपुरी

दयारे-हिन्द था गहवारा, याद है हमदम?  
बहुत ज़माना हुआ-किसके-किसके बचपन का  
इसी ज़मीन पे खेला है राम का बचपन  
इसी ज़मीन पे उन नन्हे-नन्हे हाथों ने  
किसी समय में धनुष-बान को सँभाला था  
इसी दयार ने देखी है कृष्ण की लीला  
यहीं घिरोंदो में सीता, सुलोचना, राधा  
किसी ज़माने में गुड़ियों से खेलती होंगी  
यही ज़मीं यही दरिया, पहाड़, जंगल, बाग़  
यही हवाएँ यही सुब्बो-शाम! सूरज, चाँद  
यहाँ घटाएँ यही बर्को-रादो-कौसेकुज़ह'  
यहीं के गीत, रवायात, मौसमों के जुलूस  
हुआ ज़माना कि सिद्धार्थ के थे गहवारे  
इन्हीं में आँख खुली थी अशोक-आज़म की  
इन्हीं नज़ारों में बचपन कटा था विक्रम का  
सुना है भर्तृहरि भी इन्हीं से खेला था

भरत, अगस्त, कपिल, व्यास, पाशी, कौटल्या  
जनक, वसिष्ठ, मनु, वाल्मीकि, विश्वामित्र  
कनाद, गौतमो-रामानुजो-कुमारिल भट्ट  
मोहनजोदारो-हड़प्पा के और अजन्ता के  
बनाने वाले यहीं बल्लमों से खेले थे  
इसी हिंडोले में भवभूति-कालीदास कभी  
हुमक-हुमक के जो तुतलाये-गुनगुनाये थे  
सरस्वती ने ज़बानों को उनकी चूमा था  
यहीं के चाँद व सूरज खिलौने थे उनके  
इन्हीं फ़ज़ाओं में बचपन पला था खुसरो का  
इसी ज़मीं से उठे तानसेन और अकबर  
रहीमो-नानको-चैतन्य और चिश्ती ने  
इन्हीं फ़ज़ाओं में बचपन के दिन गुज़ारे थे  
इस ज़मीं पे कभी शाहज़ाद-ए-खुर्रम  
ज़रा-सी दिल-शिकनी पर जो रो दिया होगा  
भर आया था दिले-नाजुक तो क्या अजब उसने

उन आँसुओं में झलक ताज की भी देखी हो  
 अहल्याबाई, दमन, पद्मिनी-ओ-रज़िया ने  
 यहीं के पेड़ों की शाखों में डाले थे झूले  
 इसी फ़ज़ा में बढ़ायीं थी पेंग बचपन की  
 इन्हीं नज़ारों में सावन के गीत गाये थे  
 इसी ज़मीन पें घुटनों के बल चले होंगे  
 मलिक मुहम्मदो-रसखान और तुलसीदास  
 इन्हीं फ़ज़ाओं में गूँजी थी तोतली बोली  
 कबीरदास, तुकाराम, सूरु-मीरा की  
 इसी हिंडोले में विद्यापती का कण्ठ खुला  
 इसी ज़मीन के थे लाल मीरो-ग़ालिब भी  
 ठुमक-ठुमक के चले थे घरों में, आँगन में  
 अनीसो-हाली-ओ इक़बाल और वारिसशाह  
 यहीं की खाक से उभरे थे प्रेमचन्द, टैगोर  
 यहीं से उट्टे थे तहज़ीबे-हिन्द के मेमार<sup>२</sup>  
 इसी ज़मीन ने देखा था बालपन उनका  
 यहीं दिखायी थीं इन सबने बाल-लीलाएँ  
 यहीं हर-एक के बचपन ने तरबियत<sup>३</sup> पायी  
 यहीं हर-एक के जीवन का बालकाण्ड खुला  
 यहीं से उठते बगुलों के साथ झूमे हैं  
 यहीं की मस्त घटाओं के साथ झूमे हैं  
 यहीं की मदभरी बरसात में नहाये हैं  
 लिपट के कीचड़ो-पानी से बचपने उनके  
 इसी ज़मीन से उट्टे वो देश के सावन्त  
 उड़ा दिया था जिन्हें कम्पनी ने तोपों से  
 इसी ज़मीन से उट्टी हैं अनगिनत नस्लें  
 पले हैं हिन्द-हिंडोले में अनगिनत बच्चे  
 मुझ ऐसे कितने ही गुमनाम बच्चे खेले हैं  
 मुझ ऐसे कितने ही गुमनाम मर्दों-ज़न<sup>४</sup> उट्टे  
 इसी ज़मीन से, इसी में सिपुर्दे-खाक हुए  
 ज़मीने-हिन्द अब आरामगाह है उनकी  
 इस अर्जे-पाक से उट्टीं बहुत-सी तहज़ीबें  
 यहीं तुलूअ हुई और यहीं गुरुब हुई  
 इसी ज़मीन से उभरे कई उलूमो-फुनून<sup>५</sup>  
 फ़राज़े-कोहे-हिमाला, ये रौदे-गंगो-जमन  
 और इनकी गोद में परवर्दा कारवानों ने

यहीं रुमज़े-ख़रामे-सुकूँ-नुमा<sup>६</sup> सीखे  
 नसीमे-सुब्ह-तमद्दुन ने भैरवी छेड़ी  
 यहीं वतन के तरानों की वो पवें फूटीं  
 वो बेकरार सुकूँ-ज़ा<sup>७</sup> तरन्नुमे-सहरी  
 वो कपकपाते हुए सोज़ो-साज़ के शोले  
 इन्हीं फ़ज़ाओं में अँगड़ाइयाँ जो ले के उठे  
 लबों से जिनके चरागाँ हुई थी बज़्मे-हयात  
 जिन्होंने हिन्द की तहज़ीब को, ज़माना हुआ  
 बहुत से ज़ावियों से आइना दिखाया था।

● फिराक़ गोरखपुरी की लंबी नज़्म 'हिंडोला' का एक अंश

1. बिजली, बादल और इंद्रधनुष, 2. भारत की सभ्यता के रचयिता,
3. प्रशिक्षण, 4. स्त्री-पुरुष, 5. ज्ञान-कला, 6. धीमे-धीमे चलने की
- शांतिमयता का रहस्य, 7. शान्तिमय

### पाल के किनारे रखा इतिहास

■ अनुपम मिश्र

अनुपम मिश्र की अनुपम कृति 'आज भी खरे हैं तालाब' की पुनर्प्रस्तुति कर हम गौरवान्वित महसूस कर रहे हैं। यह सपना इस देश के लोकज्ञान, आमजन की मेधा का एक अद्भुत सुंदर दस्तावेज है। इस अंक में प्रस्तुत है किताब की भूमिका और उसका पहला अध्याय।

“अच्छे-अच्छे काम करते जाना,” राजा ने कूड़न किसान से कहा था। कूड़न, बुढ़ान, सरमन और कौराई थे चार भाई। चारों सुबह जल्दी उठकर अपने खेत पर काम करने जाते। दोपहर को कूड़न की बेटी आती, पोटली से खाना लेकर।

एक दिन घर से खेत जाते समय बेटी को एक नुकीले पत्थर से ठोकर लग गई। उसे बहुत गुस्सा आया। उसने अपनी दरांती से उस पत्थर को उखाड़ने की कोशिश की। पर लो, उसकी दरांती तो पत्थर पर पड़ते ही लोहे से सोने में बदल गई। और फिर बदलती जाती है इस लंबे किस्से की घटनाएं बड़ी तेजी से। पत्थर उठा कर लड़की भागी-भागी खेत पर आती है। अपने पिता और चाचाओं को सब कुछ एक सांस में बता देती है। चारों भाइयों की सांस भी अटक जाती है। जल्दी-जल्दी सब घर लौटते हैं। उन्हें मालूम पड़ चुका है कि उनके हाथ में कोई साधारण पत्थर नहीं है, पारस है। वे लोहे की जिस चीज को छूते हैं, वह सोना बन कर उनकी आंखों में चमक भर देती है।

पर आंखों की यह चमक ज्यादा देर तक नहीं टिक पाती। कूड़न को लगता है कि देर-सबेर राजा तक यह बात पहुंच ही जाएगी और तब पारस छिन जाएगा। तो क्या यह अच्छा नहीं होगा कि वे खुद जाकर राजा को सब कुछ बता दें।

किस्सा आगे बढ़ता है। फिर जो कुछ घटता है, वह लोहे को नहीं बल्कि समाज को पारस से छुआने का किस्सा बन जाता है।

राजा न पारस लेता है, न सोना। सब कुछ कूड़न को वापस देते हुए कहता है : “जाओ इससे अच्छे-अच्छे काम करते जाना, तालाब बनाते जाना।”

यह कहानी सच्ची है, ऐतिहासिक है- नहीं मालूम। पर देश के मध्य भाग में एक बहुत बड़े हिस्से में यह इतिहास को अंगूठा दिखाती हुई लोगों के मन में रमी हुई है। यहीं के पाटन नामक क्षेत्र में चार बहुत बड़े तालाब आज भी मिलते हैं और इस कहानी को इतिहास की कसौटी पर कसने वालों को लजाते हैं- चारों तालाब इन्हीं चारों भाइयों के नाम पर हैं। बुढ़ानगर में बूढ़ा सागर है, मझगवां में सरमन सागर है, कुआंग्राम में कौराई सागर है तथा कुंडम गांव में कुंडम सागर। सन् 1907 में गजेटियर के माध्यम से इस देश का 'व्यवस्थित' इतिहास लिखने घूम रहे अंग्रेज ने भी इस इलाके में कई लोगों से यह किस्सा सुना था और फिर देखा-परखा था इन चार बड़े तालाबों को। तब भी सरमन सागर इतना बड़ा था कि उसके किनारे पर तीन बड़े-बड़े गांव बसे थे। और तीनों गांव इस तालाब को अपने-अपने नामों से बांट लेते थे। पर वह विशाल ताल तीनों गांवों को जोड़ता था और सरमन सागर की तरह स्मरण किया जाता था। इतिहास ने सरमन, बुढ़ान, कौराई और कूड़न को याद नहीं रखा लेकिन इन लोगों ने तालाब बनाए और इतिहास को किनारे पर रख दिया था।

देश के मध्य भाग में, ठीक हृदय में धड़कने वाला यह किस्सा उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम- चारों तरफ किसी न किसी रूप में फैला हुआ मिल सकता है और इसी के साथ मिलते हैं सैंकड़ों, हजारों तालाब। इनकी कोई ठीक गिनती नहीं है। इन अनगिनत तालाबों को गिनने वाले नहीं, इन्हें तो बनाने वाले लोग आते रहे और तालाब बनते रहे। किसी तालाब को राजा ने बनाया तो किसी को रानी ने, किसी को किसी साधारण गृहस्थ ने, विधवा ने बनाया तो किसी को किसी असाधारण साधु-संत ने- जिस किसी ने भी तालाब बनाया, वह महाराज या महात्मा ही कहलाया। एक कृतज्ञ समाज

सैंकड़ों, हजारों तालाब

अचानक शून्य से

प्रकट नहीं हुए थे।

इनके पीछे एक इकाई थी

बनवाने वालों की, तो

दहाई थी बनाने वालों की।

यह इकाई, दहाई मिलकर

सैंकड़ा, हजार बनती थी।

पिछले दो सौ बरसों में

नए किस्म की

थोड़ी-सी पढ़ाई पढ़ गए

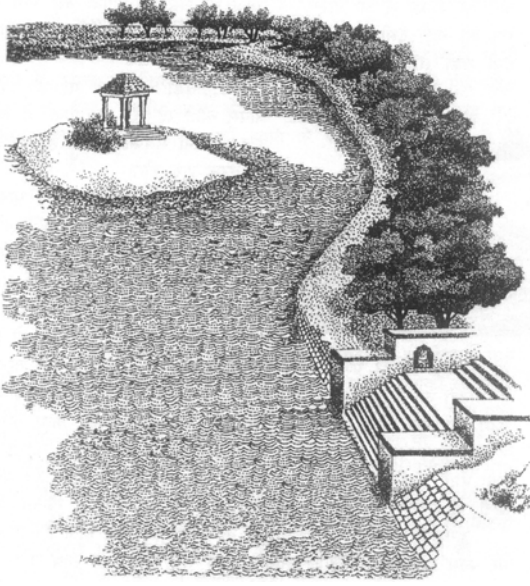
समाज ने इस इकाई,

दहाई, सैंकड़ा, हजार को

शून्य ही बना दिया।

तालाब बनाने वालों को अमर बनाता था और लोग भी तालाब बना कर समाज के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते थे।

समाज और उसके सदस्यों के बीच इस विषय में ठीक तालमेल का दौर कोई छोटा दौर नहीं था। एकदम महाभारत और रामायण काल के तालाबों को अभी छोड़ दें तो भी कहा जा सकता है कि कोई पांचवी सदी से पन्द्रहवीं सदी तक देश के इस कोने से उस कोने तक तालाब बनते ही चले आए थे। कोई एक हजार वर्ष तक अबाध गति से चलती रही इस परंपरा में पन्द्रहवीं सदी के बाद कुछ बाधाएं आने लगी थीं, पर उस दौर में भी यह धारा पूरी तरह से रुक नहीं पाई, सूख नहीं पाई। समाज ने जिस काम को इतने लंबे समय तक बहुत व्यवस्थित रूप में किया था, उस काम को उथल-पुथल का वह दौर भी पूरी तरह से मिटा नहीं सका। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के अंत तक भी जगह-जगह पर तालाब बन रहे थे। लेकिन फिर बनाने वाले लोग धीरे-धीरे कम होते गए। गिनने वाले कुछ जरूर आ गए पर जितना बड़ा काम था, उस हिसाब से गिनने वाले बहुत ही कम थे और कमजोर भी। इसलिए ठीक गिनती भी कभी हो नहीं पाई। धीरे-धीरे टुकड़ों में तालाब गिने गए, पर सब टुकड़ों का कुल मेल कभी बिठाया नहीं गया। लेकिन इन टुकड़ों की झिलमिलाहट पूरे समग्र चित्र की चमक दिखा सकती है।



लबालब भरे तालाबों को सूखे आंकड़ों में समेटने की कोशिश किस छोर से शुरू करें? फिर से देश के बीच के भाग में वापस लौटें।

आज के रीवा जिले का जोड़ैरी गांव है, कोई 2500 की आबादी का, लेकिन इस गांव में 12 तालाब हैं। इसी के आसपास है ताल मुकेदान, आबादी है बस कोई 1500 की, पर 10 तालाब हैं गांव में। हर चीज का औसत निकालने वालों के लिए यह छोटा-सा गांव आज भी 150 लोगों पर एक अच्छे तालाब की सुविधा जुटा रहा है। जिस दौर में ये तालाब बने थे, उस दौर में आबादी और भी कम थी। यानी तब जोर इस बात पर था कि अपने हिस्से में बसरने वाली हरेक बूंद इकट्ठी कर ली जाए और संकट के समय में आसपास के क्षेत्रों में भी उसे बांट लिया जाए। वरुण देवता का प्रसाद, गांव अपनी अंजुली में भर लेता था। और जहां प्रसाद कम मिलता है? वहां तो उसका एक कण, एक बूंद भी भला कैसे बगरने दी जा सकती थी। देश में सबसे कम वर्षा के क्षेत्र जैसे राजस्थान और उसमें भी सबसे सूखे माने जाने वाले थार के रेगिस्तान में बसे हजारों गांवों के नाम ही तालाब के आधार पर मिलते हैं। गांवों के नाम के साथ ही जुड़ा है 'सर'। सर यानी तालाब। सर नहीं तो गांव कहा? यहां तो आप तालाब गिनने के बदले गांव ही गिनते जाएं और फिर इस जोड़ में 2 या 3 का गुणा कर दें।

जहां आबादी में गुणा हुआ और शहर बना, वहां भी पानी न तो उधार लिया गया, न आज के शहरों की तरह कहीं और से चुरा कर लाया गया। शहर ने भी गांवों की तरह ही अपना इंतजाम खुद किया। अन्य शहरों की बात बाद में, एक समय की दिल्ली में कोई 350 छोटे-बड़े तालाबों का जिक्र मिलता है।

गांव से शहर, शहर से राज्य पर आए। फिर रीवा रियासत लौटें। आज के मापदंड से यह पिछड़ा हिस्सा कहलाता है। लेकिन पानी के इंतजाम के हिसाब से देखें तो पिछली सदी में वहां सब मिलाकर कोई 5000 तालाब थे।

नीचे दक्षिण के राज्यों को देखें तो आजादी मिलने से कोई सौ बरस पहले तक मद्रास प्रेसिडेंसी में 53000 तालाब गिने गए थे। वहां सन् 1885 में सिर्फ 14 जिलों में कोई 43000 तालाबों पर काम चल रहा था। इसी तरह मैसूर राज्य में उपेक्षा के ताजे दौर में, सन् 1980 तक में कोई 39000 तालाब किसी न किसी रूप में लोगों की सेवा कर रहे थे।

इधर-उधर बिखरे ये सारे आंकड़े एक जगह रख कर देखें तो कहा जा सकता है कि इस सदी के प्रारंभ में आषाढ़ के पहले दिन से भादों के अंतिम दिन तक कोई 11 से 12 लाख तालाब भर जाते थे- और अगले जेठ तक वरुण देवता का कुछ न कुछ प्रसाद बांटते रहते थे। क्योंकि लोग अच्छे-अच्छे काम करते जाते थे।

## जीव से शिखर तक

आज अनपूछी ग्यारस है। देव उठ गए हैं। अब अच्छे-अच्छे काम करने के लिए किसी से कुछ पूछने की, मुहुर्त दिखवाने की जरूरत नहीं है। फिर भी सब लोग मिल-जुल रहे हैं, सब से पूछ रहे हैं। एक नया तालाब जो बनने वाला है।...

पाठकों को लगेगा कि अब उन्हें एक तालाब के बनने का- पाल बनने से लेकर पानी भरने तक का पूरा विवरण मिलने वाला है। हम खुद ऐसा विवरण खोजते रहे पर हमें वह कहीं मिल नहीं पाया। जहां सदियों से तालाब बनते रहे हैं, हजारों की संख्या में बने हैं- वहां तालाब बनाने का पूरा विवरण न होना शुरू में अटपटा लग सकता है, पर यही सबसे सहज स्थिति है। 'तालाब कैसे बनाएं' के बदले चारों तरफ 'तालाब ऐसे बनाएं' का चलन चलता था। फिर भी छोटे-छोटे टुकड़े जोड़ें तो तालाब बनाने का एक सुंदर न सही, काम चलाऊ चित्र तो सामने आ ही सकता है।

...अनपूछी ग्यारस है। अब क्या पूछना है। सारी बातचीत तो पहले हो ही चुकी है। तालाब की जगह भी तय हो चुकी है। तय करने वालों की आंखों में न जाने कितनी बरसातें उतर चुकी हैं। इसलिए वहां ऐसे सवाल नहीं उठते कि पानी कहां से आता है, कितना पानी आता है, उसका कितना भाग कहां पर रोका जा सकता है। ये सवाल नहीं हैं, बातें हैं सीधी-सादी, उनकी हथेलियों पर रखी। इन्हीं में से कुछ आंखों ने इससे पहले भी कई तालाब खोदे हैं। और इन्हीं में से कुछ आंखें ऐसी हैं जो पीढ़ियों से यही काम करती आ रही हैं।

यो तो दसों दिशाएं खुली हैं, तालाब बनाने के लिए, फिर भी जगह का चुनाव करते समय कई बातों का ध्यान रखा गया है। गोचर की तरफ है यह जगह। ढाल है, निचला क्षेत्र है। जहां से पानी आएगा, वहां की जमीन मुरुम वाली है। उस तरफ शौच आदि के लिए भी लोग नहीं जाते हैं। मरे जानवरों की खाल वगैरह निकालने की जगह यानी हड़वाड़ा भी इस तरफ नहीं है।

अभ्यास से अभ्यास बढ़ता है। अभ्यस्त आंखें बातचीत में सुनी-चुनी गई जगह को एक बार देख भी लेती हैं। यहां पहुंच कर आगौर, जहां से पानी आएगा, उसकी साफ-सफाई, सुरक्षा को पक्का कर लिया जाता है। आगर, जहां पानी आएगा, उसका स्वभाव परख लिया जाता है। पाल कितनी ऊंची होगी, कितनी चौड़ी होगी, कहां से कहां तक बंधेगी तथा तालाब में पानी पूरा भरने पर उसे बचाने के लिए कहां से अपरा बनेगी, इसका भी अंदाज ले लिया गया है।

सब लोग इकट्ठे हो गए हैं। अब देर काहे की। चमचमाती

थाली सजी है। सूरज की किरणें उसे और चमका रही हैं। जल से पूर्ण लोटा है। रोली, मौली, हल्दी, अक्षत के साथ रखा है लाल मिट्टी का एक पवित्र डला। भूमि और जल की स्तुति के श्लोक धीरे-धीरे लहरों में बदल रहे हैं।

वरुण देवता का स्मरण है। तालाब कहीं भी खुद रहा हो, देश के एक कोने से दूसरे कोने तक की नदियों को पुकारा जा रहा है। 'लोकों की लहरें थमती हैं, मिट्टी में फावड़ों के टकराने की खड़खड़ाहट से। पांच लोग पांच परात मिट्टी खोदते हैं, दस हाथ परातों को उठा कर पाल पर डालते हैं। यहीं बंधेगी पाल। गुड़ बंट जाता है। महूरत साध लिया जाता है। आंखों में बसा तालाब का पूरा चित्र फावड़े से निशान लगाकर जमीन पर उतार लिया गया है। कहां से मिट्टी निकलेगी और कहां-कहां डाली जाएगी, पाल से कितनी दूरी पर खुदाई होगी ताकि पाल के ठीक नीचे इतनी गहरी न हो जाए कि पाल पानी के दबाव से कमजोर होने लगे।...

अनपूछी ग्यारस को इतना तो हो ही जाता था। लेकिन किसी कारण उस दिन काम शुरू नहीं हो पाए तो मुहुर्त पूछा जाता था, नहीं तो और कई बातों के साथ कुआं, बावड़ी और तालाब बनाने का मुहुर्त आज भी समझाते हैं : "हस्त, अनुराधा, तीनों उत्तरा, शतभिषा, मघा, रोहिणी, पुष्य, मुगशिरा, पूष नक्षत्रों में चंद्रावर, बुधवार, बृहस्पतिवार तथा शुक्रवार को कार्य प्रारंभ करें। परन्तु तिथि 4, 9 और 14 का त्याग करें। शुभ लगनों में गुरु और बुध बली हो, पाप ग्रह निर्बल हो, शुक्र का चन्द्रमा जलचर राशिगत लगन व चतुर्थ हो, गुरु शुक्र अस्त न हो, भद्रा न हो तो खुदवाना शुभ है।"

आज हममें से ज्यादा लोगों को इस विवरण में से दिनों के कुछ नाम भर समझ में आ पाएंगे, पर आज भी समाज के एक बड़े भाग के मन की घड़ी इस घड़ी से मिलती है। कुछ पहले तक तो पूरा समाज इसी घड़ी से चलता था।

...घड़ी साध ली गई है। लोग वापस लौट रहे हैं। अब एक या दो दिन बाद जब भी सबको सुविधा होगी, फिर से काम शुरू होगा।

अभ्यस्त निगाहें इस बीच पलक नहीं झपकतीं। कितना बड़ा है तालाब, काम कितना है, कितने लोग लगेंगे, कितने औजार, कितने मन मिट्टी खुदेगी, पाल पर कैसे डलेगी मिट्टी? तसलों से, बहंगी से, लगे से ढोई जाएगी या गधों की जरूरत पड़ेगी? प्रश्न लहरों की तरह उठते हैं। कितना काम कच्चा है, मिट्टी का है, कितना है पक्का, चूने का, पत्थर का। मिट्टी का कच्चा काम बिल्कुल पक्का करना है और पत्थर, चूने का पक्का काम कच्चा न रह जाए। प्रश्नों की

लहरें उठती हैं और अभ्यस्त मन की गहराई में शांत होती जाती हैं। सैकड़ों मन मिट्टी का बेहद वजनी काम है। बहते पानी को रुकने के लिए मनाना है। पानी से, हां आग से खेलना है।

डुगडुगी बजती है। गांव तालाब की जगह पर जमा होता है। तालाब पर काम अमानी में चलेगा। अमानी यानी सब लोग एक साथ काम पर आएंगे, एक साथ वापस घर लौटेंगे।

सैकड़ों हाथ मिट्टी काटते हैं। सैकड़ों हाथ पाल पर मिट्टी डालते हैं। धीरे-धीरे पहला आसार पूरा होता है, एक स्तर उभरकर दिखता है। फिर उसकी दबाई शुरू होती है। दबाने का काम नंदी कर रहे हैं। चार नुकीले खुरों पर बैल का पूरा वजन पड़ता है। पहला आसार पूरा हुआ तो उस पर मिट्टी की दूसरी तह डलनी शुरू होती है। हरेक आसार पर पानी सींचते हैं, बैल चलाते हैं। सैकड़ों हाथ तत्परता से चलते रहते हैं, आसार बहुत धीरज के साथ धीरे-धीरे से उठते जाते हैं।

अब तक जो कुदाल की एक अस्पष्ट रेखा थी, अब वह मिट्टी की पट्टी बन गई है। कहीं यह बिल्कुल सीधी है तो कहीं यह बल खा रही है, आगौर से आने वाला पानी जहां पाल पर जोरदार बल आजमा सकता है, वहीं पर पाल में भी बल दिया गया है। इसे 'कोहनी' भी कहा जाता है। पाल यहां ठीक हमारी कोहनी की तरह मुड़ जाती है।

जगह गांव के पास ही है तो भोजन करने लोग घर जाते हैं। जगह दूर हुई तो भोजन भी वहीं पर। पर पूरे दिन गुड़ मिला मीठा पानी सबको वहीं मिलता है। पानी का काम है, पुण्य का काम है, इसमें अमृत जैसा मीठा पानी पिलाना है, तभी अमृत जैसा सरोवर बनेगा।

इस अमृतसर की रक्षा करेगी पाल। वह तालाब की पालक है। पाल नीचे कितनी चौड़ी होगी, कितनी ऊपर उठेगी और ऊपर की चौड़ाई कितनी होगी- ऐसे प्रश्न गणित या विज्ञान का बोझ नहीं बढ़ाते। अभ्यस्त आंखों के सहज गणित को कोई नापना ही चाहे तो नींव की चौड़ाई से ऊंचाई होगी आधी और पूरी बन जाने पर ऊपर की चौड़ाई कुल ऊंचाई की आधी होगी।

मिट्टी का कच्चा काम पूरा हो रहा है। अब पक्के काम की बारी है। चुनकरों ने चूने को बुझा लिया है। गरट लग गई है। अब गारा तैयार हो रहा है। सिलावट पथर की टकाई में व्यस्त हो गए हैं। रक्षा करने वाली पाल की भी रक्षा करने के लिए नेष्टा बनाया जाएगा। नेष्टा यानी वह जगह जहां से तालाब का अतिरिक्त पानी पाल को नुकसान पहुंचाए बिना बह जाएगा। कभी यह शब्द 'निसृष्ट' या 'निस्तरण' या 'निस्तार' रहा होगा। तालाब

बनाने वालों की जीभ से कटते-कटते यह घिस कर 'नेष्टा' के रूप में इतना मजबूत हो गया कि पिछले कुछ सैकड़ों वर्षों से इसकी एक भी मात्रा टूट नहीं पाई है।

नेष्टा पाल की ऊंचाई से थोड़ा नीचा होगा, तभी तो पाल को तोड़ने से पहले ही पानी को बहा सकेगा। जमीन से इसकी ऊंचाई, पाल की ऊंचाई के अनुपात में तय होगी। अनुपात होगा कोई 10 और 7 हाथ का।

पाल और नेष्टा का काम पूरा हुआ और इस तरह बन गया तालाब का आगर। आगौर का सारा पानी आगर में सिमट कर आएगा। अभ्यस्त आंखें एक बार फिर आगौर और आगर को तौलकर देख लेती हैं। आगर की क्षमता आगौर से आने वाले पानी से कहीं अधिक तो नहीं, कम तो नहीं। उत्तर हां में नहीं आता।

आखिरी बार डुगडुगी पिट रही है। काम तो पूरा हो गया पर आज फिर सभी लोग इकट्ठे होंगे, तालाब की पाल पर। अनपूछी ग्यारस को जो संकल्प लिया था, वह आज पूरा हुआ है। बस आगौर में स्तंभ लगाना और पाल पर घटोइया देवता की प्राण प्रतिष्ठा होना बाकी है। आगर के स्तंभ पर गणेश जी बिराजे हैं और नीचे हैं सर्पराज। घटोइया बाबा घाट पर बैठ कर पूरे तालाब की रक्षा करेंगे।

आज सबका भोजन होगा। सुंदर मजबूत पाल से धिरा तालाब दूर से एक बड़ी थाली की तरह ही लग रहा है। जिन अनाम लोगों ने इसे बनाया है, आज वे प्रसाद बांट कर इसे एक सुंदर - सा नाम भी देंगे। और यह नाम किसी कागज पर नहीं, लोगों के मन पर लिखा जाएगा।

लेकिन नाम के साथ काम खत्म नहीं हो जाता है। जैसे ही हथिया नक्षत्र उगेगा, पानी का पहला झला गिरेगा, सब लोग फिर तालाब पर जमा होंगे। अभ्यस्त आंखें आज ही तो कसौटी पर चढ़ेंगी। लोग कुदाल, फावड़े, बांस और लाठी लेकर पाल पर घूम रहे हैं। खूब जुगत से एक-एक आसार उठी पाल भी पहले झरे का पानी लिए बिना मजबूत नहीं होगी। हर कहीं से पानी धंस सकता है। दरारें पड़ सकती हैं। चूहों के बिल बनने में भी कितनी देरी लगती है भला! पाल पर चलते हुए लोग बांसों से, लाठियों से इन छेदों को दबा-दबाकर भर रहे हैं।

कल जिस तरह पाल धीरे-धीरे उठ रही थी, आज उसी तरह आगर में पानी उठ रहा है। आज वह पूरे आगौर से सिमट-सिमट कर आ रहा है :

*सिमट-सिमट जल भरहि तलावा।*

*जिमी सदगुण सज्जन पहिं आवा।।*

अनाम हाथों की मनुहार पानी ने स्वीकार कर ली।

क्रमशः जारी

### मज़दूर दिवस

■ सुरेंद्र रावत

“अगर तुम सोचते हो कि हमें फाँसी पर लटकाकर तुम मज़दूर आन्दोलन को... गरीबी और बदहाली में कमरतोड़ मेहनत करने वाले लाखों लोगों के आन्दोलन को कुचल डालोगे, अगर तुम्हारी यही राय है - तो खुशी से हमें फाँसी दे दो। लेकिन याद रखो आज तुम एक चिंगारी को कुचल रहे हो लेकिन यहाँ-वहाँ, तुम्हारे पीछे, तुम्हारे सामने, हर ओर लपटें भड़क उठेंगी। यह जंगल की आग है। तुम इसे कभी भी बुझा नहीं पाओगे। एक दिन आयेगा जब हमारी खामोशी उन आवाज़ों से ज्यादा ताकतवर साबित होगी जिनका तुम आज गला घोट रहे हो!”

-शहीद आगस्ट स्पाइस

कार्ल मार्क्स की विचारधारा को व्यावहारिक स्वरूप देने की दृष्टि से जब जुलाई, 1889 को विश्वभर के समाजवादी, फ्रांस की राजधानी पेरिस में एकत्रित हुए तथा अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी संगठन की स्थापना की, तब इस संस्था ने एक प्रस्ताव पारित किया कि संपूर्ण विश्व में प्रथम मई को अंतर्राष्ट्रीय मजदूर दिवस के रूप में मनाया जाए। उसी समय से विश्व भर के 80 देशों में ‘मई दिवस’ को राष्ट्रीय अवकाश के रूप में मान्यता प्रदान की गई। मई दिवस का आयोजन सभी देशों में एक साथ प्रथम मई, 1990 को प्रारंभ नहीं किया जा सका। कुछ देशों में इसका आयोजन बाद में शुरू किया गया।

भारत में मई दिवस पहली बार वर्ष 1923 में मनाया गया जिसका सुझाव सिंगारवेलु चेट्टियार नामक कम्यूनिस्ट नेता ने दिया। उनका कहना था कि दुनियाभर के मजदूर इस दिन को मनाते हैं तो भारत में भी इसको मान्यता दी जानी चाहिए। मद्रास में मई दिवस मनाने की अपील की गई। इस अवसर पर वहाँ कई जनसभाएं और जुलूस आयोजित कर मजदूरों के हितों के प्रति सभी का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया गया। इस प्रकार भारत में 1923 से इसे राष्ट्रीय अवकाश के रूप में मान्यता दी गई। लेकिन वर्तमान भारत के संदर्भ में सत्तासीन सरकार जिन श्रम कानूनों की ओर कदम बढ़ा चुकी है वे मजदूर वर्ग की उपेक्षा और पूंजीपति वर्ग की नुमाइंदगी करते नज़र आ रहे हैं। लगता है 1887 को शिकागो की अदालत में सात लोगों को फाँसी की सजा और एक को 15 साल कैद-ए-बामशक़त की सजा सुनाए जाने के बाद उस वक्त शहीद आगस्ट स्पाइस ने मानवद्रोही व्यवस्था के नुमाइंदों को जो चेतावनी दी थी, उस गूँज का इनके मन-मस्तिष्क में लोप हो चुका है।

90 के दशक से जब देश ने उदारकृत अर्थव्यवस्था की ओर कदम बढ़ाया तब से पूंजीपति वर्ग की श्रम कानूनों में परिवर्तन की

मांग लगातार मुखर होती चली गयी। पूंजीपतियों की संस्था फिक्की ने सरकार के सम्मुख श्रम कानूनों में आमूल बदलाव का मांग पत्र ही पेश कर डाला है। अभी सरकार ने फैक्टरी एक्ट 1948, ट्रेड यूनियन एक्ट 1926, औद्योगिक विवाद अधिनियम 1948, ठेका मजदूरी कानून 1971, श्रम कानून (रजिस्टर रखने व रिटर्न देने से छूट) 1988, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम 1948, अप्रेंटिस एक्ट 1961, बाल श्रम कानून 1986 में परिवर्तन की दिशा में कदम आगे बढ़ाये हैं।

फैक्टरी एक्ट में प्रस्तावित संशोधन फैक्टरी मालिकों को मनमाफिक दिन साप्ताहिक छुट्टी घोषित करने का अधिकार देगा। अभी तक सामान्यतया एक इलाके की फैक्ट्रियों में एक निश्चित दिन ही साप्ताहिक छुट्टी का प्रावधान था पर अब हर फैक्टरी मालिक अलग-अलग दिन साप्ताहिक छुट्टी कर सकेंगे। इससे किसी इलाके में लेबर इंस्पेक्टर द्वारा फैक्ट्रियों पर छापा मार साप्ताहिक छुट्टी की जांच करना कठिन हो जायेगा और मालिक मनमर्जी से सातों दिन कारखाना चलाने की छूट पा जायेंगे। इसी एक्ट के तहत महिलाओं से रात की पाली में काम लेने की छूट देने, ओवरटाइम की सीमा 50 घंटे से बढ़ाकर 100 घंटे तक करने और कुछ मामलों में इसे 125 घंटे तक बढ़ाने और वेतन सहित वार्षिक अवकाश की पात्रता को दो सौ चालीस दिनों से घटा कर नब्बे दिन जैसे और भी प्रावधान किये गये हैं।

काम के घंटों को नौ से बढ़ाकर 12 घंटे किया गया है। पहले काम की अवधि आठ घंटे थी और एक घंटे का ब्रेक था। अब कंपनियां 12 घंटे में सुविधानुसार आठ घंटे काम ले सकेंगी। इसमें सीधे तौर पर श्रमिकों के स्वास्थ्य और उनके पारिवारिक व सामाजिक सरोकारों को सिरे से दरकिनार किया गया है।

वर्तमान फैक्ट्री एक्ट के मुताबिक जिन औद्योगिक इकाइयों में बिजली का कनेक्शन है और दस या दस से अधिक श्रमिक काम



करते हैं, या फिर जिन इकाइयों में बिजली का कनेक्शन नहीं है और 20 या इससे अधिक श्रमिक काम करते हैं, वे इकाइयां फैक्ट्री एक्ट के दायरे में आती हैं। केंद्र सरकार चाहती है कि जहां भी 20 या 20 से अधिक श्रमिक काम करते हैं और बिजली कनेक्शन है वे, साथ ही वे इकाइयां जहां 40 या 40 से अधिक श्रमिक काम करते हैं और बिजली कनेक्शन नहीं है, उन इकाइयों को भी फैक्ट्री एक्ट के दायरे में रखा जाए। इस एक्ट में संशोधन से अधिकांश फैक्ट्रियां दायरे से बाहर हो जाएंगी। इसका खामियाजा लाखों श्रमिकों को भुगतना होगा।

वहीं दूसरी तरफ मजदूरों के लिए यूनियन बनाना भी और ज्यादा मुश्किल कर दिया गया है। पहले किसी भी कारखाने या कम्पनी में 10 प्रतिशत या 100 मजदूर मिलकर यूनियन पंजीकृत करवा सकते थे पर अब ये संख्या बढ़कर 30 प्रतिशत कर दी गई है।

औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947 में प्रस्तावित संशोधन लागू होने के बाद श्रमिकों के हित प्रभावित होंगे। जिन कंपनियों में कर्मचारियों की संख्या तीन सौ तक होगी वैसी कंपनियां बड़ी आसानी से श्रमिकों को निकाल बाहर फेंकेंगी। पहले छंटनी करने के लिए सरकार से अनुमति लेनी होती थी, जिसमें अब सरकार का दखल नहीं होगा। मनमर्जी से कंपनियां श्रमिकों के हितों से परे जाकर अपने हित साध सकेंगी। औद्योगिक विवाद मामले में केस दर्ज करने का अधिकार राज्य सरकार को दे दिया गया है। पहले यह अधिकार लेबर इंस्पेक्टर के पास था।

ठेका मजदूरों के लिए बनाया गया ठेका मजदूरी कानून-1971 भी अब 20 की जगह 50 या इससे ज्यादा मजदूरों वाली फैक्ट्री पर लागू होगा।

न्यूनतम मजदूरी अधिनियम में बढ़ोत्तरी की बात करें तो कागजों पर न्यूनतम मजदूरी में बढ़ोत्तरी कोई नई घटना नहीं है। लेकिन असल सवाल यह है कि कागजों पर हुई इस वृद्धि का लाभ मजदूरों को मिलेगा भी या नहीं? भारत की राजधानी की ही बात करें तो दिल्ली की शान कही जाने वाली मेट्रो प्रोजेक्ट्स में न्यूनतम मजदूरी व मजदूरों को जो अन्य सुविधाएं दी जानी चाहिए उसकी सुरेआम धज्जियां उड़ाई जाती हैं, ऐसे में फिर अन्य राज्यों की बात क्या करें। वैसे भी सरकार जिन मापदंडों पर न्यूनतम मजदूरी तय करती है वे नाकाफी और अधूरे हैं क्योंकि इनमें केवल मजदूर की भोजन संबंधी आवश्यकताओं को ही आधार बनाया जाता है।

अप्रेंटिसेज संशोधन बिल 2014 के अनुसार, कारखानों में अधिक से अधिक प्रशिक्षु श्रमिक रखे जा सकेंगे जिन्हें न्यूनतम वेतन से 30 प्रतिशत कम वेतन मिलेगा और तमाम श्रम कानूनों के दायरे में वे नहीं आएंगे। जो फैक्ट्री मालिकों को बहुत से दायित्वों से मुक्ति दिलाता है। यह एक तरह से आम के आम और गुठलियों के दाम की कहावत वाला मसला है।

यदि बाल श्रम कानून पर बदलाव की बात करें तो भारत ने

अभी तक संयुक्त राष्ट्र बाल अधिकार समझौते की धारा 32 पर सहमति नहीं दी है। जिसमें बाल मजदूरी को जड़ से खत्म करने की बाध्यता है। 1992 में भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ में यह जरूर कहा था कि अपनी आर्थिक व्यवस्था को देखते हुए हम बाल मजदूरी को खत्म करने का काम रुक-रुक कर करेंगे क्योंकि इसे एकदम से नहीं रोका जा सकता है, आज 22 साल बीत जाने के बाद हम बाल मजदूरी तो खत्म नहीं कर पाए हैं उलटे केंद्रीय कैबिनेट ने बाल श्रम पर रोक लगाने वाले कानून को नरम बनाने की मंजूरी दी है।

अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन (आईएलओ) ने विश्वभर की 130 ऐसी चीजों की सूची बनाई है, जिन्हें बनाने के लिए बच्चों से काम करवाया जाता है। इस सूची में सबसे ज्यादा 20 उत्पाद अकेले भारत में बनाए जाते हैं।

यूं सरकार इन श्रम कानूनों में बदलाव के पीछे तर्क वही घिसे-पिटे जो 1990 के दौर में उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों को लागू करते समय दिए गए थे कि देश का विकास थमा हुआ है। पुराने नियमों और कानूनों ने उपयोगिता खो दी है। ये कानून विकास में बाधा साबित हो रहे हैं। असल में श्रम सुधार की आड़ में श्रम कानूनों को मजदूरों के विरुद्ध अमली जामा पहनाने की यह तैयारी है।

इस पूरे बदलाव में एक महत्वपूर्ण सवाल सरकार की हड़बड़ी को लेकर भी उठता है कि श्रम कानूनों में जिन संशोधनों को सरकार हड़बड़ी में लागू कराना चाहती है, वह तो नब्बे के दशक से ही देश के तमाम उद्योगों-कारखानों में आम बात बन चुकी है फिर फर्क क्या पड़ेगा? सेंटर ऑफ इंडियन ट्रेड यूनियन्स (सीटू) के महासचिव तपन सेन कहते हैं, “कंपनियां श्रम कानूनों के साथ जो कर रही हैं वो अभी तक गैर कानूनी था, लेकिन आने वाले समय में यह सब कानूनी हो जाएगा।”

और ऐसा भी पहली बार हुआ है जब श्रम मंत्रालय ने कोई राष्ट्रीय कार्यक्रम (पंडित दीनदयाल उपाध्याय ‘श्रमेव जयते’) आयोजित किया और उसमें श्रमिक यूनियनों नदारद थीं, क्योंकि उसमें श्रमिकों को ही नहीं बुलाया गया था।

श्रम कानूनों को कमजोर करने की इस कवायद से अच्छे दिनों का दायरा अब स्पष्ट हो चला है। सरकार ने इन श्रम कानूनों में बदलाव के जरिये मजदूर वर्ग को चुनौती दे डाली है। सरकार के यह कदम मजदूरों की जमात को वर्ग संघर्ष की राह पर ले जाने के साथ-साथ अपने कानूनी हकों को बचाने हेतु क्रांतिकारी तेवरों की ओर ले जाने की पर्याप्त संभावना लिए हुए हैं। सरकार को यह नहीं भूलना चाहिए कि मई दिवस का इतिहास पूँजी की गुलामी की बेड़ियों को तोड़ देने के लिए उठ खड़े हुए मजदूरों के खून से लिखा गया है। जब तक पूँजी की गुलामी बनी रहेगी, संघर्ष और कुर्बानी की उस महान विरासत को दिलों में सँजोये हुए मेहनतकश लेनिन का कहा - “जहां शोषण होता है वहां प्रतिरोध अवश्य होता है” - अक्षरशः सिद्ध करते रहेंगे।

## अलगाव के विरोध में

■ प्रफुल्ल विदवई

*प्रफुल्ल विदवई हमारे समय के सर्वाधिक प्रतिष्ठित पत्रकारों में से एक थे जो अपनी जन पक्षधरता के लिए जाने जाते थे। दक्षिण एशिया ही नहीं दुनियाभर के तमाम जाने-माने रिसालों में वो लगातार छपते रहे। परमाणु निरस्त्रीकरण और शांति के हक में मुसलसल उठने वाली ये मजबूत आवाज़ अब खामोश हो चुकी है। समर्थ की ओर से प्रफुल्ल को श्रद्धांजलि।*

मिलिए राहुल से। ये एक पत्रकार हैं और भारतीय और विदेशी मीडिया में काम करने का गहरा अनुभव रखते हैं। दिल्ली में बिताये कई सालों में वे यहाँ के रिहाइश पर आधारित व्यापार में मकान मालिकों के लिए एक पूरी तरह से योग्य और बढ़िया 'संभावित' किरायेदार रहे हैं। खासकर के दक्षिणी दिल्ली की उन कॉलोनीयों में जहाँ किरायेदार बड़े सोच-समझ कर 'नियुक्त' किये जाते हैं।

पर वे वेलकम तभी तक रहते जब तक उनकी पहचान ना उजागर होती। याने जब तक वे किरायेदार बनने के लिए अनिवार्य अनुबंध में अपना उपनाम, 'जलाली' ना उजागर करते तब तक। यह उपनाम सुनते ही मकान मालिक ठंडे पड़ जाते और उन्हें घर ना दे पाने के बहाने बनाने लग जाते। मसलन ये फ्लैट देने का वायदा हम पहले ही किसी से कर चुके हैं; वे शाकाहारी हैं; वे नॉन-वेज खाने वाले व्यक्ति को यह मकान नहीं देना चाहते और न जाने क्या क्या...

इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि जलाली एक कश्मीरी ब्राह्मण उपनाम है और उसी तरह से घाटी की साझा संस्कृति का परिचायक है जैसे मुसलमानों का 'पंडित' उपनाम।

यह मुस्लिम-विरोधी पूर्वाग्रह अभी हाल में ही दो बार सामने आया, मुंबई में तो और भी नंगेपन के साथ। पहला तब जब प्रबंधन स्नातक ज़ीशान अली को एक बड़ी हीरा चमकाने वाली कंपनी ने इस आधार पर नौकरी देने से मना कर दिया कि, 'हम केवल गैर मुसलमान आवेदकों को ही रखते हैं'। दूसरा तब जब, कम्प्यूनिकेशन के क्षेत्र में काम करने वाली मिस्बाह कादरी को उत्तरी-केंद्रीय मुंबई के अपने किराये के मकान से इसलिये निकाल दिया गया क्योंकि वे मुसलमान हैं।

जब ज़ीशान को भेजा गया कंपनी का ईमेल वायरल हो गया तब हरी कृष्णा एक्सपोर्ट्स (HKE) ने यह कह कर अपना पल्ला झाड़ने की कोशिश की कि उनकी कंपनी के मानव संसाधन प्रबंधक को कंपनी की नीतियों की जानकारी नहीं थी तभी ऐसा हुआ। हालाँकि इस पर यकीन करना मुश्किल है पर अगर मान लें तो यह तो लगता ही है कि शायद मैनेजर ने समाज में फैले, बल्कि एक आम बात बनते जा रहे, हिंदुत्व के प्रभाव और दर्शन को आत्मसात कर लिया है वह दर्शन जो यह भी निर्दिष्ट करता है कि कौन सी नौकरियाँ किसको मिलेंगी।

ज़ीशान का प्रसंग उन बिरले प्रसंगों में से है जहाँ धार्मिक पूर्वाग्रह

इतने खुले तौर पर सामने आता है। पर इससे भी विरली बात यह हुई कि पुलिस ने HKE पर धार्मिक भावनाएं आहत करने के लिए भारतीय दंड संहिता का सेक्शन 153-B ठोक दिया। इससे भी असाधारण यह रहा कि ज़ीशान के दो हिन्दू सहपाठियों ने HKE के साथ काम करने से साफ़ तौर पर मना कर दिया।

उधर मिस्बाह को दलाल ने यह बताया कि इस अपार्टमेंट का यह नियम है कि यहाँ मुसलमान किरायेदार नहीं रखे जाते। तब उन्होंने उसी बिल्डिंग में अपनी दो हिन्दू दोस्तों के साथ 'मेहमान' के तौर पर रहने की कोशिश की। परिणाम यह हुआ की उन तीनों को बिल्डिंग से बाहर कर दिया गया। इस केस में बिल्डर के विरुद्ध गम्भीर आरोप बनते हैं पर यह स्पष्ट नहीं है कि इस प्रसंग में पुलिस कैसे कार्यवाही करेगी।

ऐसे मसलों में पिछले अनुभव बहुत उत्साहजनक नहीं रहे हैं। अक्टूबर 2013 में रियल एस्टेट पोर्टल, '99 एकड़', पर एक दलाल ने यह विज्ञापन दिया जो धर्म आधारित भेदभाव का बेहद शोचनीय उदाहरण प्रस्तुत करता है। ज़रा गौर फ़रमाइये, 'नए बने हुए पूरी तरह फर्निशड, दो BHK फ्लैट। हवा और रोशनी भरपूर। कॉस्मोपोलिटन सोसाइटी, ख़रीदे जाने पर तुरंत कार पार्किंग की व्यवस्था, कोई मुसलमान नहीं। पांचवे तल के इच्छुक तुरंत संपर्क करें...'

इस विज्ञापन पर लोगों ने गहरा असंतोष व्यक्त किया। इसके बाद विज्ञापन की भाषा बदल दी गयी। पोर्टल ने माफ़ी मांगी और आगे से सावधान रहने का वायदा किया। पर कोई अभियोग नहीं चलाया गया, सज़ा नहीं हुयी।

भारत के शहरों में इस जैसी कोऑपरेटिव हाउसिंग सोसाइटीज से मुसलमानों को बाहर रखे जाने ने गहरी विकृतियाँ पैदा की हैं। यहाँ तक कि खुद मुसलमान दलाल भी भावी हिन्दू किरायेदारों को ऐसी जगहों पर फ्लैट दिखलाते हैं जहाँ 'बिल्डिंग बढ़िया' है, 'अच्छे लोग' हैं और 'कोई मुसलमान' नहीं है।

गुजरात- हिंदुत्व की प्रयोगशाला - में धर्म आधारित भेदभाव एक अलग ही स्तर पर नुमायां होता है। 2002 के दंगों के बाद मुसलमान अहमदाबाद के भीतरी इलाकों को छोड़ कर एक पश्चिमी उपनगर जुहापुरा में जा बसे। जुहापुरा की जनसँख्या बढ़ कर चार लाख तक पहुँच गयी है। पर यहाँ नागरिक सुविधाएँ और बस सेवा की स्थिति बहुत ही ख़राब है। जुहापुरा अब एक भयंकर बस्ती, घेठो बन चुका है।

यह पृथक्कीकरण अहमदाबाद के प्राइमरी स्कूलों तक फैला हुआ है। अहमदाबाद नगर निगम के द्वारा चलाये जाने वाले 456 स्कूलों में केवल दो ही अंग्रेजी माध्यम के हैं; शाहपुर और दानी लिम्दा में। शाहपुर में जहाँ ज्यादातर बच्चे हिन्दू हैं वहाँ यूनिफार्म का रंग केसरिया है। दानी लिम्दा में जहाँ मुस्लिम बच्चे अधिक हैं वहाँ यूनिफार्म हरा है।

मुसलमानों की यह अलगगौड़ी और घिरी हुयी बस्तियों में रहने की उनकी बढ़ती मजबूरी अब लगभग हर भारतीय शहर का यथार्थ बनता जा रहा है। इसके कई साक्ष्य हम क्रिस्टोफर जेफ़्रेलो और लौरेंट गुएर द्वारा सम्पादित महत्वपूर्ण किताब 'मुस्लिम्स इन इंडियन सिटीज़ : ट्रेजेक्टरीज़ ऑफ़ मार्जिनीलाइज़ेशन' में देख सकते हैं। कई सारे और अध्ययन, जैसे कि सच्चर कमेटी की रिपोर्ट, ये बताते हैं कि कैसे इन बस्तियों में स्कूल, सरकारी दवाखाने, दूध के बूथ, बैंक, नागरिक सुविधाएँ, और शहर की ढांचागत सुविधाएँ तक नहीं होतीं। यहाँ तक की जुहापुरा में लोग पिज्जा डिलिवरी करने के लिए भी राज़ी नहीं होते।

यह भेदभाव मुसलमानों को नागरिक जीवन और नागरिकता से बहिष्कृत कर देता है। यह उतना ही अस्वीकार्य और खतरनाक है जितना कि सन साठ के अमरीका में अश्वेतों के प्रति भेदभाव और नागरिक अधिकारों से उनकी बेदखली।

डॉ. मार्टिन लूथर किंग का नागरिक स्वातंत्र्य के लिए चलाया गया आंदोलन ऐसे पृथक्करण को खत्म करने की लम्बी और संघर्षपूर्ण लड़ाई थी। दक्षिणी शहर के मेयरों पर बाकायदे दबाव बनाया गया था कि वे सारे बच्चों के लिए समान बसों का प्रयोग करें। लोगों को कम से कम न्यूनतम अधिकार मुहैया कराने के लिए भेदभाव के विरुद्ध कई कानून बनाये गए थे।

भारत को भी पृथक्करण को रोकने और इस प्रक्रिया को उलटने के लिए कड़े संघर्ष की ज़रूरत है। ऐसे ही पाकिस्तान में भी जहाँ शिया विरोधी, हिन्दू विरोधी पूर्वाग्रह और भ्रांतियाँ फैली हुयी हैं।

भारत में सच्चर कमेटी रिपोर्ट (2006) और अमिताभ कुंडू के निर्देशन में इसका फॉलो अप करने वाली कमेटी ने उपरोक्त मुद्दों के सन्दर्भ में कई सटीक सुझाव दिए हैं। कुंडू रिपोर्ट पिछले साल सितम्बर में सरकार को सौंपी गयी थी और इसे आज तक सार्वजनिक नहीं किया गया है। पर इसके कुछ हिस्से उपलब्ध हैं और उनमें कई महत्वपूर्ण सुझाव मिलते हैं।

कुंडू कमेटी सच्चर कमेटी में दिए 'विभिन्नता सूचक' (Diversity Index) के विचार को विस्तार देती है। इसके तहत संस्थानों में विभिन्न समुदायों (जाति, धर्म, जातीयता, जेंडर आधारित और भाषाई समुदाय) के प्रतिनिधित्व को मापने का विचार है और शिक्षा, रिहाइश, स्वास्थ्य सेवाओं, और विकास की योजनाओं को संज्ञान के दायरे में रखने का प्रस्ताव भी। इसके तहत उन सरकारी और निजी संस्थानों को अधिक अनुदान, प्रोत्साहन, और तरजीह देने का प्रावधान होगा जहाँ विभिन्नता और मिश्रण अधिक है।

कमेटी यह नोट करती है कि सांप्रदायिक हिंसा और इसके सामने राज्य की निष्क्रियता 'संवैधानिक समता के आदर्श को चोट

पहुंचाती है और सामाजिक ताने-बाने को खंडित करती है। इससे लोकतान्त्रिक स्वर का दमन होता है और अल्पसंख्यकों के बीच सक्रिय नागरिकता की संभावनाएं कम होती जाती हैं...' इसलिए राज्य को ऐसे शैक्षिक और सांस्कृतिक कार्यक्रमों को बढ़ावा देना चाहिए जो हर क्षेत्र में समता और विभिन्नता का आदर्श स्थापित करें; और 'सामाजिक और सांस्कृतिक दायरों को संकरा करते जाने की' कोशिशों को निरस्त करने का प्रयास करें।

उतना ही ज़रूरी यह भी है कि एक व्यापक असर वाला भेदभाव विरोधी कानून बनाया जाये जो कि लिंग, जाति, धर्म, विकलांगता आधारित भेदभाव की रोकथाम करे और ऐसे कृत्यों को दण्डित करे फिर चाहे बात राज्य संचालित क्षेत्रों की हो या फिर अन्य क्षेत्रों की। निस्संदेह 'क़ानूनी मान्यता वाले नागरिक समाधानों' की भारत को सख्त ज़रूरत है।

भारत के पास केवल दो ऐसे कानून हैं जो भेदभाव को दण्डित करते हैं: एक जो विकलांग, या भिन्न क्षमताओं वाले लोगों के सन्दर्भ में हैं और दूसरा दलित/आदिवासियों के शोषण/अपमान के सन्दर्भ में। इन कानूनों को अन्य धार्मिक और जातीयता आधारित श्रेणियों तक विस्तारित किया जाना चाहिए। भारत दुनिया के कुछ ऐसे लोकतंत्रों में शुमार है जहाँ अपार भिन्नता, और ग़ैरबराबरी है पर समुचित रूप से एक भी भेदभाव विरोधी कानून और एक भी समान अवसर आयोग नहीं है।

दलितों और अन्य पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण व्यवस्थात्मक भेदभाव से निपटने का मात्र एक तरीका है। विभिन्नता सूचक माप और एक भेदभाव विरोधी कानून 'एक ज्यादा समतापूर्ण समाज बनाने में और बराबरी की अधिक गहरी समझ को विकसित करने में सहायक हो सकते हैं'। एक ऐसी समझ जो हमें 'समुदाय विशेष के लिए आरक्षण' से परे ले जाएगी।

हालाँकि घोर सांप्रदायिक मोदी सरकार के निज़ाम में ऐसा हो सके इसके लिए विशेष प्रयासों की ज़रूरत है। सरकार में अल्पसंख्यक मामलों की कमान नज़मा हेप्तुल्लाह के हाथों में है जिन्होंने अपनी इनिंग की शुरुआत यह कहते हुए की कि भारत में मुसलमान इतनी संख्या में हैं कि उन्हें अल्पसंख्यक कहना ठीक नहीं। उनके डिटी मुख्तार अब्बास नक़वी को गायों को मारने और बैलों/भैसों को मारने के बीच का अंतर पता नहीं है। उन्होंने हाल ही में ये कहा कि जिन्हें बीफ़ खाना है वे पाकिस्तान चले जाएँ।

विभिन्न जन अधिकार संगठनों और विभिन्न धार्मिक समुदायों के सचेत नागरिकों को यह विशेष पहल करनी चाहिए कि HKE और मुंबई के उपरोक्त बिल्डरों जैसे लोगों पर अपराधिक मामले दर्ज हों।

उन्हें उच्च न्यायालय में इस स्पष्टीकरण के लिए भी याचिका दायर करनी चाहिए कि क्या संविधान का भेदभाव विरोधी रूख और समता से जुड़े अनुच्छेद गैर सरकारी संस्थानों पर लागू होंगे या नहीं। इस सबसे ही उस कानून की ज़मीन तैयार होगी जिसकी भारत को सख्त ज़रूरत है।

अनुवाद - सौम्य मालवीय

## रोजगार का टूटा आधार

■ अफलातून

खेती के बाद सबसे अधिक रोजगार देने वाले हथकरघा उद्योग, कुटीर उद्योग, लघु उद्योग और जंगल पर आश्रित रोजगार के अवसरों को समाप्त करने का खुला खेल शुरू हो चुका है। विकेंद्रीकरण से कम पूंजी लगा कर अधिक लोगों को रोजगार मिलेगा, इस सिद्धांत को अमली रूप देने वाले कानून को दस अप्रैल को पूरी तरह लाचार बना दिया गया। सिर्फ लघु उद्योगों द्वारा उत्पादन की नीति के तहत बीस वस्तुएं आरक्षित रह गई थीं। जो वस्तुएं लघु और कुटीर उद्योग में बनाई जा सकती हैं उन्हें बड़े उद्योगों द्वारा उत्पादित न करने देने की स्पष्ट नीति के तहत 1977 की जनता पार्टी की सरकार ने 807 वस्तुओं को लघु और कुटीर उद्योगों के लिए संरक्षित किया था। यह नीति विश्व व्यापार संगठन की कई शर्तों के आड़े आती थी इसलिए 1991 के बाद लगातार यह सूची संकुचित की जाती रही। विदेशी मुद्रा के फूलते गुब्बारे और भुगतान संतुलन के 'सुधार' के साथ यह शर्त जुड़ी थी कि उत्पादन में मात्रात्मक प्रतिबंध नहीं लगाए जा सकेंगे। विश्व व्यापार संगठन की इस शर्त के कारण 1 अप्रैल, 2000 को संरक्षित सूची से 643 वस्तुएं हटा दी गईं।

इस वर्ष दस अप्रैल को जिन बीस वस्तुओं को हटा कर संरक्षण के लिए बनाई गई सूची को पूरी तरह खत्म किया गया था उन पर गौर कीजिए - अचार, पावरोटी, सरसों का तेल, मूंगफली का तेल, लकड़ी का फर्नीचर, नोटबुक या अभ्यास पुस्तिका और रजिस्टर, मोमबत्ती, अगरबत्ती, आतिशबाजी, स्टेनलेस स्टील के बरतन, अल्युमिनियम के घरेलू बरतन, कांच की चूड़ियां, लोहे की अलमारी, लोहे की कुर्सियां, लोहे के टेबल, लोहे के सभी तरह के फर्नीचर, रोलिंग शटर, ताले, कपड़े धोने का साबुन और दियासलाई। बड़ी पूंजी, आक्रामक विज्ञापन, मानव-श्रम की जगह मशीन को तरजीह देने वाली तकनीक से लैस देशी-विदेशी खिलाड़ी अधिक रोजगार देने वाले इन छोटे उद्योगों को लील जाएंगे।

इस प्रकार के छोटे और कुटीर उद्योगों के उत्पादों की खपत को बढ़ावा देने के लिए केंद्रीय एवं राज्य-स्तरीय सरकारी क्रय संस्थाओं द्वारा लघु और कुटीर उद्योगों से ही सामान खरीदने की नीति को भी निष्प्रभावी बनाने की दिशा में काम हो रहा है। इससे ठीक विपरीत स्थिति पर गौर करें। बड़े उद्योगपतियों को बढ़ावा देने के लिए नियम-कानून बदल देने का भी इतिहास रहा है। सरकार द्वारा नियम कानून बदल कर अपने प्रिय

औद्योगिक घराने को बहुत बड़े पैमाने पर लाभ पहुंचाने के प्रमुख उदाहरणों में अंबानियों के उदय को प्रायोजित करने के लिए तत्कालीन कांग्रेस सरकार द्वारा सिर्फ उन्हें ही सिंथेटिक धागे के उत्पादन के लिए कच्चे माल के आयात की इजाजत देने के साथ-साथ हथकरघा द्वारा तैयार की जाने वाली कपड़ों की किस्मों की आरक्षित सूची को निष्प्रभावी बना देना है। गौरतलब है कि कपड़ा और उद्योग नीति के इन नीतिगत फैसलों के द्वारा अंबानी को देश का सबसे बड़ा औद्योगिक घराना बनाने के पहले तक सूती कपड़े कृत्रिम धागों से बने कपड़ों से सस्ते थे। कृत्रिम धागों से पावरलूम पर बने कपड़ों की इजाजत के साथ-साथ लाखों हथकरघा बुनकरों की आजीविका छिन गई है। पहले पावरलूम पर सिर्फ 'कोरे कपड़े' और हथकरघे पर बिनाई की विविध डिजाइनों के कपड़ों को बनाने की इजाजत थी।

यह कानून 1985 में बन गया था। तब बाईस किस्म के कपड़े इस कानून के तहत हथकरघे के लिए संरक्षित किए गए थे। पावरलूम लॉबी ने कानून को 1993 तक मुकदमेबाजी में फंसाए रखा और 1993 में जब यह प्रभावी हुआ तब संरक्षित किस्मों की संख्या ग्यारह रह गई। एक प्रामाणिक अध्ययन के अनुसार हथकरघे पर बने होने के दावे वाले सत्तर फीसद कपड़े दरअसल मिलों या पावरलूम पर बने होते हैं।

भारत में सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में तीस लाख लोगों को काम मिला है जबकि हथकरघा से दो करोड़ लोग जुड़े हैं। अठारहवीं सदी के फ्रांसीसी यात्री फ्रैन्कोए पिरार्ड डी लावाल ने अपने यात्रा विवरण में बताया है कि अफ्रीका के दक्षिणी छोर से चीन तक लोग भारतीय हथकरघे पर बने कपड़ों से अपना शरीर ढंकते थे। उनके अनुसार भारत के पूर्वी तट के सिर्फ एक बंदरगाह से सालाना पचास लाख गज कपड़े का निर्यात होता था।

वर्ष 2002 के गुजरात जनसंहार के बाद कन्फेडरेशन ऑफ इंडियन इंडस्ट्रीज के राहुल बजाज, अजीम प्रेमजी और गोदरेज जैसे उद्योगपतियों ने इसकी निंदा की थी। इसके मुकाबले कुछ गुजराती उद्योगपतियों ने रिसर्जेंट गुजरात नामक एक समूह बनाया और तत्कालीन मुख्यमंत्री नरेंद्र मोदी का बचाव किया। रिसर्जेंट गुजरात का नेतृत्व अडाणी समूह के गौतम अडाणी और टोरेन्ट नामक दवा कंपनी के सुधीर मेहता कर रहे थे। प्रावधानों का दुरुपयोग करते हुए पिछले साल अगस्त में सर्वप्रथम मेहता की कंपनी को दाम नियंत्रण से पांच साल की छूट प्रदान की गई।

दुनिया के प्रमुख बैंक गौतम अडाणी को ऑस्ट्रेलिया में कोयला खदान के लिए कर्ज देने से इनकार कर चुके थे, तब भारत के सार्वजनिक क्षेत्र के प्रमुख बैंक स्टेट बैंक ऑफ इंडिया ने उन्हें इस कार्य के लिए छह हजार करोड़ रुपए का ऋण दिया। किसी भी विदेशी परियोजना के लिए यह सबसे बड़ा ऋण है। अडाणी समूह पर 55,364.94 करोड़ रुपए लंबी अवधि का कर्ज है और तीस सितंबर, 2014 को 17,267.43 करोड़ रुपए का लघु-अवधि का कर्ज था। अडाणी समूह सन 2002 में 3,741 करोड़ रुपए का था, यह 2014 में बढ़ कर 75,659 करोड़ रुपए का बन गया है।

कच्छ के मुंद्रा में बंदरगाह बनाने के लिए गुजरात सरकार द्वारा अडाणी को एक रुपए से सोलह रुपए प्रति वर्ग मीटर की दर से जमीन मुहैया कराई गई, जो बाजार दर से बहुत ही कम थी। पिछले साल गुजरात विधानसभा में पेश की गई नियंत्रक एवं महा लेखा परीक्षक की रपट के अनुसार राज्य सरकार द्वारा पच्चीस हजार करोड़ रुपए की अनियमितताएं की गई थीं। इनमें अडाणी, अंबानी और एस्सार समूह को डेढ़ हजार करोड़ रुपए का अनुचित लाभ शामिल था। गुजरात के बड़े शहरों में पाइपलाइन से रसोई गैस की आपूर्ति और पूरे प्रदेश में सीएनजी पंप अडाणी समूह द्वारा संचालित हैं।

पर्यावरण मंत्री ने राज्यसभा में एक प्रश्न के जवाब में बताया है कि 2004 और 2013 के बीच विभिन्न परियोजनाओं के लिए 3 लाख 43 हजार हेक्टेयर जंगल समाप्त कर दिए गए। इससे जुड़ा प्रश्न बनता है कि इन जंगलों पर कितने परिवार आश्रित थे?

मौजूदा सरकार व्यापक जनसमुदाय द्वारा उत्पादन नहीं चाहती है, वह उत्पादन का ढेर लगाना चाहती है। 'जनसमुदाय' और 'ढेर' के लिए अंगरेजी में एक ही शब्द 'मास' होने के कारण यह नीति गांधीजी की 'प्रोडक्शन बाय मासेस, नॉट मास प्रोडक्शन' वाली नीति का विलोम है। वैश्वीकरण के दौर की सरकारें (चाहे वे यूपीए की रही हों, या राजग की) इस मामले में भिन्न नहीं हैं।

बहुराष्ट्रीय कंपनियों को भारत में आकर उत्पादन करने के लिए इस सरकार ने जो 'मेक इन इंडिया' का नारा दिया है उसके लिए यह जरूरी है कि जनता द्वारा उत्पादन के अवसरों को योजनाबद्ध तरीके से समाप्त किया जाए। इस सरकार द्वारा श्रम कानूनों में संशोधन भी गैर-मानवीय है और इसका एकमात्र उद्देश्य श्रमिकों के ज्यादा शोषण द्वारा उत्पादन को बढ़ाना है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रम कानूनों में प्रस्तावित 'सुधार' भारत के मजदूरों की हालत चीन के जैसी कर देंगे।

विकास दर की स्पर्धा में चीन से मुकाबला करने के लिए श्रमिकों के काम की परिस्थितियों को चीन जैसा बनाया जा रहा है। चीन में लगातार तीन-चार दिनों तक कारखाने से न निकलने देने की व्यवस्था है।

इस अवधि में मजदूरों को कारखाना परिसर में ही निर्धारित अवधि तक आराम, भोजन, नित्यकर्म के अलावा बाकी समय

कारखाने में जुते रहना पड़ता है। इन परिस्थितियों में चीन में मजदूरों की आकस्मिक मौत की घटनाएं काफी बढ़ गई हैं। अमेरिका की बड़ी-बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने श्रमिकों के ज्यादा शोषण के अवसरों को ध्यान में रख कर अपने कारखाने चीन में स्थापित किए हैं। कंप्यूटर और मोबाइल बनाने वाली प्रसिद्ध कंपनी एपल के चीन में स्थापित एपल को आपूर्ति देने वाली फॉक्स कॉन कंपनी के कारखाने के चौदह श्रमिकों ने काम की परिस्थिति से आजिज आकर 2010 में आत्महत्या कर ली थी। बीबीसी ने बीते दिसंबर में इसी कंपनी और इस कंपनी को आपूर्ति करने वाले कंपनी में अपने रिपोर्टों को श्रमिक के भेष में भेजा। लगातार अठारह दिनों तक सोलह-सोलह घंटों की पाली, तेरह-चौदह वर्ष के बच्चों को श्रमिकों के रूप में लगाना और ओवरटाइम के स्वैच्छिक न होने के तथ्य प्रकाश में आए।

श्रम कानूनों में प्रस्तावित सुधारों की दिशा बड़ी कंपनियों को चीन जैसे नियम-कानून और माहौल प्रदान करने के प्रति आश्वस्त करने वाली है। सरकार ने जिन श्रम कानूनों में संशोधन का प्रस्ताव किया है वे ऐसे कानून हैं जिनके तहत श्रमिक छह दशक से भी अधिक समय से अपने नियोजन से संबंधित सुविधाएं और लाभ प्राप्त करते आ रहे हैं। कारखाना अधिनियम, 1948 के प्रस्तावित संशोधनों को देखें तो वर्तमान कानून के अनुसार सामान्यतया किसी भी वयस्क श्रमिक से एक दिन में नौ घंटों से अधिक काम नहीं कराया जा सकता और इस अवधि में भी पांच घंटों के बाद आधे घंटे का विश्राम दिया जाना आवश्यक है।

1948 के कानून में इन्हीं तथ्यों पर विचार कर सीमित ओवरटाइम के प्रावधान किए गए थे, पर अब मजदूरों के स्वास्थ्य की कीमत पर इस तरह के कथित श्रम सुधार करना कतई उचित नहीं कहा जा सकता। वर्तमान में एक तिमाही में ओवरटाइम की अधिकतम अवधि पचास घंटे है जिसे सरकार सौ घंटे करना चाहती है। इसका एक परिणाम यह भी होगा कि कम से कम श्रमिकों से अधिक से अधिक कार्य कराया जा सके।

अभी तक कारखानों में महिला श्रमिकों और किशोरों को जोखिम भरे काम पर नहीं लगाया जा सकता, पर अब संशोधन के द्वारा यह प्रावधान करने का प्रस्ताव किया गया है कि केवल किसी गर्भवती महिला या विकलांग व्यक्ति को जोखिम भरे काम पर न लगाया जाए। इसका सीधा अर्थ यह है कि सरकार का इरादा महिलाओं और किशोर श्रमिकों को भी जोखिम भरे कार्यों में लगाने का है।

आर्थिक विकेंद्रीकरण और सामाजिक न्याय के परखे हुए विश्वास का स्थान 'मेक इन इंडिया' के प्रति अंध-विश्वास ले रहा है। बहुराष्ट्रीय कॉरपोरेट हित की बुनियाद रखने के लिए हथकरघा, लघु, कुटीर उद्योग और श्रमिक हितों की कब्र खोदने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है।

साभार : जनसत्ता

## भारतीय मुस्लिम नवजागरण-2

■ कर्मन्दु शिशिर

अहमद हुसैन मदनी, महमूद-उल हसन शैखुल हिंद के सबसे प्रिय और योग्य शिष्य थे और यह उन्होंने अपने कारनामों से सिद्ध भी किया। उनकी धार्मिक और राजनीतिक विरासत की उन्होंने न सिर्फ रक्षा की बल्कि उसे और बुलंदियों तक ले गये। गो कि वे ऐसे छात्र थे, जो अपनी शिक्षा भी पूरी नहीं कर पाये। बावजूद इसके धार्मिक मामलों में उनका ज्ञान असाधारण था। राजनीतिक और आर्थिक इतिहास के साथ मुस्लिम देशों के साथ यूरोपीय देशों के रिश्तों को लेकर उनकी जानकारी और समझ चकित कर देने वाली थी। मुस्लिम विश्व की उन जैसी समझ उस समय शायद ही किसी और की रही है। उनकी तकरीरों के अलावा उनके शिष्यों ने अनेक जगहों पर उनका उल्लेख किया है। इसके अलावे उन्होंने दो खंडों में अपनी विस्तृत आत्मकथा 'नक्शे हयात' नाम से प्रकाशित की है।

उनका जन्म 1879 ई. में एक गरीब परिवार में हुआ। उनके ऊपर काफी कर्ज था-यहां तक कि घर भी गिरवी था। अंत में पिता पूरे परिवार के साथ मक्का में जा बसे। सोलह वर्षों तक वहाँ रहे। कभी-कभी कुछ दिनों के लिए वापस भी हुए लेकिन भारत में रुके नहीं। प्रारंभ में उनकी रुचि राजनीति की ओर नहीं थी। जब महमूद-उल हसन शैखुल हिंद मक्का गये तो इनसे भेंट हुई। उन्होंने भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के बारे में बताया और प्रेरित किया। इसका सकारात्मक असर पड़ा। फिर तो मदनी साहब इस दिशा में पूरी तरह समर्पित हो गये। वे भी शैखुल हिंद के साथ माल्टा में गिरफ्तार हुए थे। अंग्रेजों ने जनवरी 1920 में उनको बंबई लाकर शैखुल हिंद के साथ ही रिहा कर दिया। अहमद हुसैन मदनी वहां से आकर सीधे खिलाफत आंदोलन में कूद पड़े। जिसके कारण उन्हें फिर दो साल जेल में बिताने पड़े। वे खिलाफत आंदोलन के साथ-साथ असहयोग आंदोलन में सक्रिय हो गये। उसी दौरान उनकी निकटता अबुल कलाम आज़ाद से हुई और वे उनके बुलावे पर कलकत्ता में अरबी मदरसे में छह वर्षों तक हदीस के उस्ताद रहे। फिर 1928 में वे देवबंद आए वहां प्रधानाध्यापक बने तो पूरे तीस वर्षों तक इस पद पर बने रहे। अब तक देवबंद की राजनीतिक गतिविधियां पूरी तरह उजागर हो चुकी थीं और वे महात्मा गांधी के आदर्शों पर जीवन भर सक्रिय रहे। देवबंद की शिक्षा के साथ भारत की आज़ादी और हिंदू-मुस्लिम एकता का आदर्श उनके जीवन में अभिन्न रूप से जुड़ा रहा। इस विचार से वे जीवन में कभी नहीं डिगे। न तो उन्हें सरकारी दमन डिगा सका और न ही मुस्लिम लीग। उलेमाओं ने उन पर तीखे प्रहार किये। विभाजन समर्थक कौम के लोगों ने कटूक्तियाँ और फक्तियाँ कसी, लेकिन वे तनिक विचलित नहीं हुए। वे कई बार

गिरफ्तार हुए, जेल गये मगर अपने उसूलों पर डटे रहे।

उनका मानना था कि कोई मुसलमान भौतिक शासकों को अपनी स्वतंत्रता नहीं सौंप सकता। अतः प्रत्येक मुसलमान का यह कर्तव्य है कि वह अपनी पूरी ताकत से भारत में ब्रिटिश शासन का खात्मा करे। उन्होंने आह्वान किया कि मुसलमान अपनी गुलामी की बेड़ियाँ तोड़ने के लिए अन्य भारतीयों के साथ मिलकर विदेशी शासकों के खिलाफ उठ खड़ा हो। डॉ. ताराचंद ने लिखा है कि उन्होंने अपनी 336 पृष्ठों की आत्मकथा में 200 पृष्ठों में भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विनाशकारी परिणामों की समीक्षा प्रस्तुत की है। (1) जातिगत और राष्ट्रीय भेदभाव, उच्च सेवाओं में प्रवेश निषेध से भारतीयों का अपमान (2) भूमि कर, उद्योग-व्यापार का विनाश कर देश की आर्थिक बर्बादी। (3) अविवेकपूर्ण न्याय व्यवस्था और भ्रष्टाचार (4) कानून बनाने में भारतीय शामिल नहीं (5) विदेशी आधिपत्य से देशवासियों का नैतिक पतन। उन्होंने ब्रिटिश सरकार द्वारा आटोमन साम्राज्य के साथ धोखे से भरा जो सलूक किया, उससे स्पष्ट है कि वे इस्लाम के कट्टर शत्रु हैं। इसलिए ब्रिटिश साम्राज्य पूरे एशिया और अफ्रीका के लिए खतरा है। वे मानते थे कि कांग्रेस ब्रिटिश सत्ता को हटा सकती है। वे इस बात पर ज़ोर दे रहे थे कि भारत के लोगों को, धार्मिक मतभेदों के बावजूद एक राष्ट्र के रूप में एकजुट रहना चाहिए। तभी आज़ादी हासिल होगी। जब अल्लामा इकबाल ने कौम का एकमात्र आधार धर्म को कहा तो उन्होंने 'मुहद्दा कौमियत और इस्लाम' लेख लिख कर उनकी स्थापनाओं का प्रत्युत्तर दिया।

इस प्रसंग को डॉ. रफीक जकारिया ने 'बढ़ती दूरियाँ : गहराती दरार' में भी इस वाकिये का वर्णन किया है। वे लिखते हैं 'मुझे एक दिलचस्प विवाद याद आ रहा है जो अग्रगणी मुस्लिम धर्म-वेत्ता, देवबंद के मौलाना हुसैन अहमद मदनी (1879-1957), जो 'शैखुल हिन्द' कहलाते थे और विख्यात शायर-दार्शनिक अल्लामा इकबाल के बीच छिड़ गया था। उनके विवाद का मुद्दा यह था कि इस्लाम में 'राष्ट्र' या 'मुल्क' की अवधारणा क्या है? मौलाना के अनुसार, मुल्क की संरचना में धर्म एक महत्वपूर्ण तत्व (घटक) नहीं है। इकबाल इससे असहमत थे। एक छोटी-सी फारसी कविता में उन्होंने मौलाना के नजरिये को बुलबी (विधर्म) कहकर उसकी निंदा की थी। निश्चित ही एक बेहद सम्माननीय धर्मवेत्ता के खिलाफ यह बड़ा भारी आरोप था। लेकिन मौलाना ने चुनौती को कबूल किया, और कुरान और हदीस के अध्याय-दर-अध्याय और आयतों का उद्धरण दिया, पैगम्बर साहब के अमल का उदाहरण दिया और साबित किया कि किस प्रकार अपने उद्भव-काल की शुरुआत से ही मुसलमानों के साथ-साथ

गैर-मुस्लिम भी रहते हैं। उन्होंने यह ध्यान दिलाया कि ऐसी अवधारणा कतई गैर-इस्लामी नहीं है क्योंकि खुद पैगम्बर साहब ने मदीना में यहूदियों, ईसाइयों यहां तक कि अन्य धर्म के मूर्ति पूजकों के साथ समझौता कर, इसकी मिसाल पेश की है। इस करारनामे को 'मीसाके-मदीना' (मदीना का करारनामा) कहते हैं और इसके आधार पर मौलाना ने जोर देकर कहा कि मुसलमान और गैर-मुस्लिम अपने-अपने धर्मों का पालन करते हुए एक ही राष्ट्र-मुल्क में रह सकते हैं। (पृष्ठ 297)'' इकबाल अल्लामा (महापंडित) थे उनकी स्थापनाओं का बहुत महत्व था। इसलिए मदनी साहब ने इस पर गंभीरता से विचार किया। उन्होंने 'कौम' और 'मिल्लत' के अर्थ के अंतर को गंभीरता से स्पष्ट किया। "धर्म का ध्यान किये बगैर साझी बस्ती या नस्ल के परे कौम किसी भी समूह पर लागू हो सकता है और इसका अर्थ वही नहीं है जो मिल्लत का है क्योंकि मिल्लत उसी समूह को कह सकते हैं जो शरीयत के दीन से जुड़ा हो। भारतीय मुसलमान हालांकि अन्य लोगों से धर्म के मामले में अलग हैं लेकिन भारत के अन्य समुदायों और समूहों के साथ देश के सह निवासी हैं। इसीलिए उन्हें आज़ादी और स्वतंत्रता प्राप्त करने के सामूहिक प्रयास में शामिल होने की सलाह दी गयी है।" (भारत में राष्ट्रवाद और सांप्रदायिक राजनीति पृष्ठ 174). दरअसल मूल बात होती है नीयत! वह अर्थ और व्याख्या की प्रकृति और स्वरूप को भी प्रभावित करती है। मदनी साहब ने बड़ी सरलता से 'कौम' का अर्थ बताया और उसकी परिभाषा भी समझायी। मदनी साहब अपने समय के कुरान, हदीस और इस्लामी धर्म तथा इतिहास के बहुत बड़े ज्ञाता थे। मक्का प्रवास के दौरान उनकी शिक्षा की ऐसी शोहरत थी कि वहां के उलेमा नाराज़ हो गये क्योंकि उनके विद्यार्थी मदनी साहब के पास जाने लगे। उन्होंने षड्यंत्र भी किया। उनकी शिक्षा महदुल-उल हसन शैखुल हिन्द जैसे आलिम से हुई थी। वे उस देवबंद की विरासत के वारिस थे, जिसकी नींव नानौवती साहब ने डाली थी-जिनके गुरु ने उन्हें जन्मजात वली कहा था। उनको कासिम रशीद गंगोही जैसे आलिम का साथ हासिल हुआ था, जिसके बारे में मौलाना कश्मीरी कहते थे कि इसने ज्ञान के समंदर को पी लिया और पचा लिया है। उनका खुद का अध्ययन व्यापक और गहरा था। उनको बरगलाना किसी आलिम के वश की बात नहीं थी। उन्होंने इन पारिभाषिक शब्दों के अर्थ परिवर्तन के पूरे इतिहास को खंगाल कर रख दिया। उन्होंने प्राचीन, मध्य और वर्तमान समय के तमाम अरबी शब्दकोशों का हवाला देते हुए यह सिद्ध किया कि 'कौम' का अन्य अर्थों के साथ-साथ इसका मूल तात्पर्य ऐसे स्त्री-पुरुषों की जमात से है, जो बिना धार्मिक हुए किसी भी समान उद्देश्य से आपस में बंधे हों। उन्होंने कुरान में इसके प्रयोग का प्रमाण देते हुए बताया कि कैसे उसमें ईश्वर के पैगम्बरों और उनके काफिर प्रजा की चर्चा की गयी है। उन्होंने यह भी बताया कि कुरान में

विभिन्न धर्मों के मानने वालों के एक ही समुदाय का उल्लेख है। उन्होंने अपनी बात पर बल देते हुए कहा कि उनके पास इसके पक्ष में स्वयं पैगम्बर साहब का उदाहरण मौजूद है। उन्होंने विस्तार से बताया कि पैगम्बर के रूप में 14वें साल में मुहम्मद साहब ने मदीना के यहूदी कबीलों को मुसलमानों के साथ जोड़ा, जिससे वे काफिरों के खिलाफ उनके साथ लड़ सकें। इसमें शर्त तय थी कि प्रत्येक पक्ष अपने-अपने धर्म का पालन करेंगे, मगर बाकी के सारे मामलों में मुसलमान और यहूदी एक कौम के माने जाएंगे। इसलिए मदनी साहब ने भारत के हिंदू, मुसलमान और सिक्ख को एक कौम के रूप में देखने और मानने पर जोर दिया।

मदनी साहब के अनुसार 'मिल्लत' उस समुदाय के लिए प्रयोग में लाया जाता है- जो आस्था और धार्मिक नियमों पर आधारित है। वह न सिर्फ मुस्लिम बल्कि किसी समुदाय के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है... देवबंद में इस्लाम की व्याख्या नानौवती और गंगोही साहब जैसे असाधारण आलिमों ने की थी। उसे एक उत्कर्ष दिया था महदुल-उल हसन शैखुल हिन्दसाहब ने, जिनके मदनी साहब शिष्य थे। यह देवबंद की विरासत का विस्तार था। मदनी साहब का कहना था कि इस्लाम में न सिर्फ गैर मुस्लिम के साथ राष्ट्रीयता का अटूट रिश्ता होता है बल्कि वह इसे प्रोत्साहित भी करता है। इस्लाम आस्था पर ही नहीं, तर्क पर भी भरोसा करता है। उन्होंने विस्तार से बताया है कि भारत में हिंदू-मुस्लिमों ने मिलकर साहित्य, कला, संगीत और लोगों की साझी संस्कृति का सामूहिक निर्माण किया है। उनका कहना था कि "हिंदुस्तान के मुसलमानों को अमुस्लिम समुदायों के साथ एक संयुक्त राष्ट्रीयता में शामिल होकर हिंदुस्तान की आज़ादी के लिए संघर्ष करना चाहिए। ऐसा करते हुए वह अपने धर्म, संस्कृति, भाषा आदि से संबंधित तथा वैयक्तिक विधि के अंतर्गत प्राप्त अधिकारों की रक्षा के लिए हर प्रकार के उपायों का उपयोग कर सकते हैं।" उन्होंने आगे कहा कि "यदि हिंदुस्तान के मुसलमान संयुक्त राष्ट्रीयता बनाने को तैयार नहीं हैं तो उन्हें विदेशी शासन के अत्याचारों तथा शोषण से छुटकारा पाने के लिए उस समय तक प्रतीक्षा करनी होगी, जब तक हिंदुस्तान के सभी लोग मुसलमान नहीं हो जाते, और यह होने वाला नहीं है। इसका मतलब यह कि हम हाथ-बांध बांधकर कब्रिस्तान में दफन हो जाएं।" वे हर तरह से मुसलमानों को समझाने की कोशिश करते हैं। वे साफ-साफ कहते हैं कि "काँग्रेस का उद्देश्य किसी संप्रदाय के मामले में हस्तक्षेप करना नहीं है। वह केवल उन्हीं मामलों को ठीक करना या सुलझाना चाहती है जिनका संबंध सबके हितों और आवश्यकताओं से है।" (मुतहदा कौमियत और इस्लाम- इस्लाम और आधुनिक भारत पृष्ठ 79-80) राष्ट्रीयता को लेकर वे लिखते हैं-

"संयुक्त राष्ट्रीयता से मेरा मतलब उसी प्रकार की मिली-जुली कौमियत से है जिसकी नींव पैगम्बर साहब ने मदीने के लोगों में

डाली थी। मैं चाहता हूँ भारत के निवासी-उनका कोई भी धर्म क्यों न हो, भारतीय रूप में, एक ही देश में रहने के नाते एक कौम हो जाएं। किसी को भी किसी के धार्मिक मामलों में दखल नहीं देना चाहिए। इसके साथ ही भारत में रहने वाले सभी लोगों को अपने-अपने धार्मिक विश्वासों, आदर्शों और उपासना पद्धतियों के अनुसार आचरण की छूट होनी चाहिए। उन्हें स्वतंत्र भाव से अपने रीति-रिवाजों, कर्मकांडों और विचारों पर चलने और जहां तक उनका धर्म अनुमति देता है, उन्हें उसके शांतिपूर्ण प्रचार का अवसर मिलना चाहिए।” (मुतहद्दा कौमियत और इस्लाम पृष्ठ 53, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास 3/275)

मदनी साहब के विचारों का यही वह आदर्श है जिस पर आज का भारत खड़ा है। नवजागरण के इस महानायक ने इन विचारों को सिर्फ अपने दिमाग से पैदा नहीं किया था। इसके पीछे उनकी साफ समझ थी और इस देश की महान रवायतें थीं, अनुभव थे, और था देवबंद की महान इस्लामी शिक्षा की विरासत। यही कारण था कि जब अबुलकालिब ने हिंदू, मुस्लिम को दो अलग कौम बताते हुए दो राष्ट्र का सिद्धांत दिया तो मदनी साहब ने फारसी में एक शेर लिख कर उन पर व्यंग्यात्मक चोट की।

तरसम न रसी काबा तू से आराबी।

कीं राह कि तू भी रवी इंग्लिस्तान अस्त...

(ओ अरब के रेगिस्तान में भटकने वाले, मुझे गम है कि तू पवित्र काबे में नहीं पहुंच पाएगा, तू जिस राह पर चल रहा है वह इंग्लैंड को जाएगा।)

अबुल आला मौद्दी पाकिस्तान बनाने वाले लोगों में मुखर थे। वे कहते थे कि मुसलमान केवल अपने समाज में ही रह सकता है, वह गैर मुस्लिमों के साथ सत्ता में भागीदारी नहीं कर सकता। अहमद हुसैन मदनी इसे बकवास मानते थे और इस विचार को एक सिरे से खारिज करते थे। वे हिंदू-मुस्लिम-सिक्ख-ईसाई सारे भारतीयों की एकता पर यकीन रखने और भारत विभाजन के विरोध वाले मसले पर किसी समझौते को तैयार नहीं थे। जिस तरह महात्मा गांधी हिंदू थे, उसी तरह मदनी साहब पक्के मुसलमान थे। नवजागरण के आकलन में हमें इस नज़रिये पर गौर करना होगा। इसी समझ के अभाव में हिन्दी नवजागरण को हिंदू धर्म से जोड़कर अनेक जगहों पर गैरवाजिब चोट की गयी है। उर्दू और मुस्लिम नवजागरण में तो धर्महीन नायक एक भी नहीं मिलेगा। असल बात धार्मिकता और राष्ट्रवाद तथा धार्मिकता और सांप्रदायवाद के बीच फर्क को समझने की है। किस तरह सांप्रदायिक नज़रिया होने से धर्म की परिभाषा और स्वरूप बदल जाता है, उसकी व्याख्या बदल जाती है। इसके प्रमाण उर्दू और मुस्लिम नवजागरण में बार-बार दिखायी देते हैं। धार्मिकता राष्ट्रवाद से जुड़कर किस तरह लोकतांत्रिक और मानवीय रूप में हमारे सामने आती है। वह कहीं से कट्टरता और संकीर्णता की शिकार नहीं होती और न ही दूसरे धर्मों के प्रति आक्रामक होती

है। देवबंद आंदोलन में नवजागरण की यही शानदार परंपरा अपनी ईमानदारी, सच्चाई और देशभक्ति के साथ पूरे शबाब में विकसित हुई। यह उर्दू नवजागरण का असाधारण उत्कर्ष है, जिसकी मिसाल इतिहास में ढूंढे भी कम मिलेगी।

मदनी साहब के लेखन और कारनामों को देखते हुए यह बात स्पष्ट होती है कि वे जितने बड़े धार्मिक गुरु थे, इस्लाम के महान शिक्षक थे, उतने ही महत्वपूर्ण राजनीतिक विचारक भी थे। उन्होंने अविभाजित भारत के लिए बनाये जाने वाले संविधान के लिए कुछ निर्देशक प्रस्ताव लिये थे जिसे डॉ. ताराचंद ने अपने इतिहास ग्रंथ में उद्धृत किया है। उसके अनुसार-

1. भारत राज्य एक गणराज्य होगा जिसका निर्वाचित राष्ट्रपति होगा। वही सर्वोच्च कार्यपालक सत्ता का प्रयोग करेगा।

2. केंद्रीय सरकार में मुसलमान अल्पमत में होंगे लेकिन उनके धार्मिक, राजनैतिक और आर्थिक हितों को संरक्षण प्राप्त होगा। केंद्र सीमित विषयों को निपटायेगा यथा रक्षा, वैदेशिक मामले, संचार, परिवहन और वित्त। शेष विषय प्रांतीय अधिकार क्षेत्र में होंगे। धार्मिक मामलों का उत्तरदायित्व प्रांतीय सरकारों के पास होगा।

3. शिक्षा प्रांतीय विषय होगा।

4. मुस्लिम शरीयत या दंड-विधान लागू नहीं किया जाएगा।

5. सरकार का गठन विभिन्न समुदायों में साझीदारी के आधार पर होगा। (मकतूबात पृष्ठ 115)

अगर आप इस अविभाजित भारत के निर्देशक स्वरूप पर गौर करें, तो मदनी साहब के सोच-विचार और मानस का सहज अंदाज़ कर सकते हैं। यह सोचकर हैरानी होती है कि स्वाधीनता आंदोलन में गांधी जी ने जिन राजनेताओं के आपसी मतभेदों को लेकर उनके बीच बातचीत और समझौते की कोशिशें की अगर वे उन तत्वों को छोड़, मदनी साहब और ऐसे अनेक नेताओं के साथ जनता के बीच जाते तो शायद आज तस्वीर इतनी गंदली नहीं होती। मदनी साहब ने इस बात का भी विरोध किया कि मुसलमान सर्व इस्लामवाद के कारण हर मामले में विश्व के मुसलमानों का समर्थन करते हैं जिसका असर राष्ट्रीय राजनीति पर भी पड़ता है। वे राष्ट्रीय हितों को प्राथमिकता देने के पक्षधर थे। उन्होंने लिखा है-“मुसलमानों का यह फर्ज आयद होगा कि वह गैर-मुस्लिमों से किये गये समझौते की शर्तों का पालन करें जिनके अंतर्गत यह आवश्यक पड़ने पर सार्वभौम मुस्लिम भातृत्व से उन्हें अलग करना पड़ेगा।” (मुतहद्दा कौमियत और इस्लाम पृष्ठ 65)

अहमद हुसैन मदनी साहब के राष्ट्रवाद और राजनीतिक विचारों का असल उत्कर्ष मुस्लिम लीग की राजनीति के विश्लेषण और विरोध में देखने को मिलता है। वे मुस्लिम लीग की राजनीति के विश्लेषण और विरोध में देखने को मिलता है। वे मुस्लिम लीग की राजनीति को देश तथा देश के मुसलमानों के लिए ही नहीं, बल्कि विश्व के मुसलमानों के लिए घातक मानते थे। वे लीग के



शिमला प्रतिनिधिमंडल के इतिहास से ही बात शुरू करते हैं और आरोप जड़ते हैं कि इसमें नवाब, ज़मींदार और बड़े-बड़े वकील थे, एक भी जननेता अथवा राजनीतिक कार्यकर्ता नहीं था। वे इस बात की कड़ी आलोचना करते हुए इस बात को रखते हैं कि यह कवायद अलीगढ़ कॉलेज के आर्चबोल्ड के माध्यम से ब्रिटिश सरकार के इशारे पर हुई थी। वे अगला सवाल यह करते हैं कि पांच वर्षों तक लीग सरकार के प्रति वफादारी दिखाती रही और राजनीतिक आंदोलनों की निंदा करती रही। इस तरह यह एक तरह से सरकार के प्रति वफादारी प्रकट करने का मंच बनकर रह गया था। जब सरकार मुसलमानों से विमुख हुई और बाल्कन युद्ध तथा प्रथम विश्वयुद्ध के कारण मुसलमानों में क्षोभ पैदा हुआ तो फिर यह कांग्रेस की ओर झुकी। 1920 में नागपुर अधिवेशन में असहयोग आंदोलन से लीग भयभीत हो उठी। 1921 से वह फिर सांप्रदायिक संकीर्णता की ओर लौट आयी। वह फूट, विरोध और विनाश के बीच रोपने में लग गयी। मदनी साहब लीग की आलोचना में लगातार कटु होते गये हैं। लीग ने हिंसा को बढ़ावा ही नहीं दिया बल्कि मुस्लिम आक्रांता चंगेज़ खाँ और हलाकू की सराहना करने का पाप और अपराध भी किया। लीग कभी अपने हिस्से के लिए ब्रिटिश सरकार से लड़ने को तैयार नहीं हुई मगर कांग्रेस को सीधी कार्रवाई की धमकी जरूर देती रही। मदनी साहब सवाल पूछते हैं यह सब क्या था? उन्होंने आगे लीग की इन कार्रवाइयों के दुष्परिणामों की गंभीर पड़ताल की।

उन्होंने विचार और विश्लेषण करके दो राष्ट्रों के सिद्धांत की धज्जियां उड़ा दी। उन्होंने सिद्ध किया कि दो राष्ट्रों के सिद्धांत से देश की आंतरिक ही नहीं वैदेशिक मामलों पर भी बुरा असर पड़ेगा। उन्होंने बताया कि इससे सबसे ज्यादा नुकसान मुसलमानों का होगा। उन्होंने विस्तार से और बारीकी से विचार करते हुए लिखा है कि -“उनकी एकता समाप्त हो जाएगी। जिन प्रांतों में वे अल्पमत में हैं, वहां उनकी केंद्रीय सरकार को असाध्य आंतरिक और बाह्य समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। ...अर्थ व्यवस्था का संतुलन विदेशी सरकारों और पूंजीपतियों के हाथों में चला जाएगा।” आप उनकी चकित कर देने वाली दूरदर्शिता और प्रखर राजनीतिक समझ पर गौर करें। वे आगे लिखते हैं कि “हमें रक्षा के लिए साम्राज्यवादी ताकतों पर निर्भर रहना होगा और हम अपने राजनीतिक भविष्य की लगाम उनके हाथ सौंपने के लिए बाध्य हो जाएंगे।” (मकतूबात खंड 2 पृष्ठ 121-122)

उन्होंने विभाजन के खतरे को और विस्तार से बताया है कि हमारे खर्चों में इतनी वृद्धि हो जाएगी कि हम बाहरी खतरों से मुल्क की हिफाजत नहीं कर पाएंगे। इसमें अनेक दुष्चारियां आएंगी। ऐसे में हमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर निर्भर रहना होगा और हमारी लगाम उनके हाथों में होगी। उनको जैसे आज के हालात का पूर्वानुमान हो क्योंकि वे आगे लिखते हैं-“भारत और पाकिस्तान के बीच धार्मिक कट्टरताजन्य कटुता का ब्रिटेन (उस

समय वही साम्राज्यवादी देश था) पूरा लाभ उठाएगा और इस प्रकार भारत पर से ब्रिटिश आधिपत्य की समाप्ति के बावजूद उसकी सत्ता फिर स्थापित हो जाएगी।” (वही) आप ब्रिटिश की जगह अमेरिका कर दें तो आज उस महान् भविष्यद्रष्टा का कथन पूरी तरह घटित होता दिख जाएगा। वे मुसलमानों को हर तरह से समझा रहे थे कि विभाजन से दोनों की ताकत कम हो जाएगी। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उनका रुतबा कम हो जाएगा और दूसरे मुस्लिम देशों की सहायता भी नहीं कर पाएंगे। उन्होंने अंत में अपना निष्कर्ष सुनाया कि -“पाकिस्तान के निर्माण के परिणामस्वरूप जो कतिपय हानियां होंगी उनके मुकाबले भारतीय संघ के अंतर्गत अल्पसंख्यकों के लिए संभावित खतरे बिल्कुल काल्पनिक हैं।” (वही) स्वयं डॉ. ताराचंद ने विस्तार से उनके विचारों को उद्धृत करने के बाद यह बात लिखी है कि -“उन्होंने प्रमाणित किया कि स्वाधीन भारत की सरकार के संबंध में कांग्रेस के नेताओं ने उलेमाओं से जो समझौता किया था उसके विश्लेषण से किसी भी विचारशील व्यक्ति को विश्वास हो जाएगा कि मुसलमानों के धार्मिक और सांस्कृतिक तथा राजनैतिक अधिकार उनके द्वारा पूर्णतः सुरक्षित बना दिये गये हैं।” (भारतीय स्वतंत्रता-आंदोलन का इतिहास 3/278)

प्रसिद्ध पत्रकार और विचारक एम.जे.अकबर ने बारबरा मेटकाफ के हवाले से इस पर विस्तार से विचार करते हुए मदनी और मौदूदी के विचारों का विश्लेषण किया है। मौदूदी जिन्ना के पाकिस्तान को ‘नापाकिस्तान’ कहते थे। उनके अनुसार अगर कांग्रेस इस्लाम को ‘झटका’ से हलाक करेगी, तो जिन्ना ‘हलाल’ करके तबाह करेंगे। उनके अनुसार धर्मनिरपेक्ष राज्य इस्लामी विचारधारा से बिल्कुल उलट की चीज़ है, जिसकी कोई गुंजाइश नहीं। उन्होंने 31 अगस्त, 1941 को लाहौर में जमात-ए-इस्लामी का गठन किया। एम.जे. अकबर ने लिखा है कि मौलाना मदनी ने इसका तीखा विरोध किया। मदनी साहब की नज़रों में वे सपनों की दुनिया में रहते थे, जिसमें गैर मुस्लिमों के लिए कोई गुंजाइश नहीं बचती थी। एम.जे. अकबर ने लिखा-“मदनी ने विचारधारा की दृष्टि से एक कहीं अधिक संवेदनशील नुक्ता उठाया-“दूसरे मदनी लिखते हैं कि यह देखते हुए कि खुद मुसलमानों के बीच मजहबी ऐतबार से कोई पूरी रजामंदी मुश्किल ही से नज़र आती है तो फिर इस्लामी हुकूमत के दरअसल क्या मायने होंगे? मदनी ने अलग-अलग दिशासूचक खानेबंदियों की फेहरिस्त पेश की (किसी हद तक विवादास्पद क्योंकि उनके सदस्य संभव था इन ठप्पों का विरोध करें) जिन्हें उन्होंने ‘पूरबियात’, ‘मर्गारबियात’, ‘शियावाद’, ‘कादियानियात’, ‘खाकसारियात’ और ‘अदम तकलीद’ कहा... यही वक नुक्ता है जहाँ मदनी यह साफ कह देते हैं कि उन्होंने किस हद तक लोकतांत्रिक व्यवस्था के बुनियादी मूल्यों को आत्मसात कर लिया था- वे ध्यान दिलाते हैं कि उत्तर-औपनिवेशिक देश में सत्ता के एकमात्र स्रोत होंगे-कायल करना, रहनुमाई करना

और सलाह देना, ताहम मुसलमानों के अपने वैविध्य को देखते हुए सिर्फ एक सख्तगीर जालिमाना हुकूमत ही इस्लामी हुकूमत थोप सकती थी... यह साफ था कि मदनी बहुत दूर तलक देख सकते थे “(चिंगारी- एम.जे. अकबर पृष्ठ 217) आगे जिन्ना ने अपनी जिस धर्मनिरपेक्ष पाकिस्तान की कल्पना की थी, उसकी नींव भी रखी, शुरुआत भी की मगर अयूब खां और जिया-उल-हक के समय तक मौदूदी पाकिस्तान के धर्मपिता बन गये। उनकी पुस्तकें अफगानिस्तान के तालिबानी मदरसों तक वितरित होती हुई फैलती गयीं। यही मौदूदी है जिन्होंने पाकिस्तान में दो हजार अहमदियों की हत्या करवा दी थी और इनको फांसी की सजा हुई, लेकिन बाद में वह सजा अपने आप आजीवन कारावास में बदल दी गयी। बाद में इनको रिहा कर दिया गया। 1972 में बीमारी के कारण ये सक्रिय राजनीति से अलग हो गये। इन्हें दमे और दिल की बीमारी थी। फिर ये अपने बेटे के पास अमेरिका चले गये, जहाँ इनका बेटा डॉक्टर था। 22 नवंबर, 1979 को उनका निधन हो गया। आप मौदूदी की तुलना में मौलाना मदनी को रखकर उनके और देवबंद के आंदोलन की अहमियत को समझ सकते हैं।

लेकिन इतिहास का व्याकरण अपनी गति से ही चलता है। भारत का विभाजन हुआ और मदनी साहब की कही गयी आशंकाएं भी सच साबित हुई। इससे मदनी साहब की सोच और भावना का महत्व और बढ़ जाता है। ऐसी बात नहीं थी कि देवबंद के इन्हीं जननायकों ने देश के चोटी के मुस्लिम विद्वानों की एक सभा आयोजित की। उसमें धार्मिक और राजनीतिक मसलों को रखकर विचार किया गया और जमीयत उलेमा का 1920 में गठन किया गया, जिसके पहले अध्यक्ष महमूद-उल हसन शैखुल हिन्द हुए। 21 नवंबर, 1921 को आयोजित सम्मेलन में उनकी दी गयी ऐतिहासिक तकरीर आज भी हमें नवजागरण में देवबंद की ऐतिहासिक भूमिका के प्रति विनम्र करती है। डॉ. ताराचंद ने लिखा है कि -“वह भाषण दरअसल एक मरणासन्न, युद्ध-क्षत् वयोवृद्ध योद्धा की अपने सहयोगियों से मार्मिक अपील थी कि वे शुभ संघर्ष जारी रखें और तब तक न रुकें जब तक विजयश्री वरण न कर लें।” (वही पृष्ठ 279) लेकिन उसी साल शैखुल हिन्द साहब का इंतकाल हो गया और मदनी साहब तथा औबेदुल्ला सिन्धी उनकी मशाल को जीते-जी आगे रोशन किये रहे। मदनी साहब 1940 में जमीयत उलेमा के अध्यक्ष बने और जब तक जीवित रहे इस पद पर बने रहे। उन्होंने हमेशा कांग्रेस का साथ दिया तथा सत्याग्रहों और आंदोलनों में भाग लिया और जेल यात्राएं की। नज़रबंदी समेत उन्होंने साढ़े सात साल जेल में बिताये। मदनी साहब आज़ादी के बाद लगभग दस साल जीवित रहे। वे सत्ता में कभी शामिल नहीं हुए। उनका इंतकाल 5 दिसंबर, 1957 को देवबंद में हुआ मगर विभाजित भारत के साथ अपने गुरु शैखुल हिन्द की मार्मिक अपील उनको जीवन भर व्यथित करती रही। देवबंद ने अपने समय में विचार और त्याग का जो

इतिहास रचा वैसा मुस्लिम नवजागरण तो दूर भारतीय नवजागरण में भी कम मिसालें ही होंगी।

मुस्लिम नवजागरण में देवबंद आंदोलन की अहमियत पर अभी विचार करना शेष है। आप कल्पना कीजिए अगर देवबंद दारुल उलूम नहीं होता तो विशाल मुस्लिम आबादी की सोच और संवेदना को कट्टरपंथी अथवा विभाजन की पक्षधर जमातें कैसा इस्तेमाल करतीं? भारतीय संस्कृति का वह साझापन, वह गंगा-यमुनी संस्कृति कितनी और क्षत-विक्षत होती! एक विशाल मुस्लिम आबादी इस्लाम के पवित्र और सहिष्णु धार्मिक परंपराओं से मरहूम रह जाती। शायद आज़ादी के बाद भारत और पाकिस्तान दोनों के लिए यह असंस्कृत आबादी अनेक संकटों और दुश्वारियों को जन्म देती। इन तमाम बिंदुओं के आलोक में देखें तो हमें मुस्लिम नवजागरण में देवबंद आंदोलन की अहमियत का अंदाज़ा हो जाता है। देवबंद के विचारों और उत्सर्ग का वह गौरवपूर्ण अध्याय मुस्लिम नवजागरण के इतिहास में हमेशा स्वर्णिम अक्षरों में अंकित रहेगा-इसमें कोई संदेह नहीं।

*नोट : पिछली किस्त में नानौवती के साथ जिस मौलाना अहमद रज़ा खान साहब का उल्लेख हुआ है वे अपने समय के आला आलिम थे जिनकी देश-दुनिया में बड़ी प्रतिष्ठा थी। उनका नानौवती साहब से इस्लाम को लेकर गंभीर सैद्धांतिक मतभेद थे। उनके कुष्ठ होने की बात भी गलत बतायी जाती है। उनकी मज़ार आज भी बरेली में है जो बहुत ही जाग्रत जानी जाती है। इनके उर्स पर आज भी बड़ी संख्या में श्रद्धालु आते हैं। उनके नाती मौलाना अख्तर रज़ा खान जो अजहरी मिया के नाम से मशहूर हैं, दुनिया में बड़ी इज्जत की निगाह से देखे जाते हैं। यह जानकारी लखनऊ के सईद अहमद साहब से प्राप्त हुई है।*

आधार ग्रंथ :

1. दारुल उलूम देवबंद का इतिहास-मौलाना मुहम्मदुल्लाह कासमी
2. भारत में राष्ट्रवाद और सांप्रदायिक राजनीति-मुशीरुल हसन
3. The Role of Shaikh-ul-hind Maulana Mahmud-ul-hasan in the Indian Freedom Movement - Mohammad Tayyab
4. मौलाना कासिम नानौवती-हयात और कारनामों-मौलाना सैयद मुनाजिर अहसन गिलानी
5. भारतीय स्वतंत्रता-आंदोलन का इतिहास (खंड-3) डॉ. ताराचंद
6. इस्लाम और आधुनिक भारत-प्रो. मुकुट बिहारी लाल
7. खिलाफत आंदोलन- काजी मुहम्मद अदील अब्बासी अनुवाद- नूर नबी अब्बासी

साभार : हंस

### जहर मोहरा हिंसा के लिए

■ ताबिश खैर

फ्रांस, कुवैत और ट्यूनीशिया के तीन अलग-अलग हमलों में मुस्लिम अतिवादियों ने 26 जून को रमज़ान के महीने में 70 लोगों की हत्या कर दी। रमज़ान वह महीना जिसमें यह उम्मीद की जाती है कि इस्लाम पर ईमान रखने वाले हिंसक कार्रवाईयों तो दूर हिंसक विचारों से भी बचे रहेंगे। ऐसी हरकतों का विरोध करने के लिए धर्मनिरपेक्ष होना कोई शर्त नहीं बल्कि अपनी पारंपरिक इस्लामी उसूलों को मानते हुए भी इन्हें खारिज किया जा सकता है, उदाहरण के लिए रमज़ान के संदर्भ में।

पर बदकिस्मती से यह मुस्लिम चरमपंथियों द्वारा की गई न तो कोई पहली कार्रवाई थी और न ही आखिरी। और अब सिर्फ इन पर (मुस्लिम चरमपंथी) इल्ज़ाम धरना काफी नहीं होगा। आस्थावान मुसलमानों को खुद भी सवालियों के घेरे में लाना होगा। कहीं खुद उनकी सोच में हिंसा के बीज तो नहीं छिपे हैं? ऐसे कई रास्ते हैं जिनसे होकर ये हिंसा के बीज उन आम मज़हबी मुसलमानों की ज़िंदगी में घुसपैठ कर जाते हैं जो अन्यथा ऐसी घटनाओं से हिल जाते हैं। उदाहरण के लिए अगर सउदी अरब या ईरान की तरह हम यह भरोसा करते हैं कि दूसरे लोगों को सार्वजनिक तौर पर अपने खुदा की इबादत करने का हक नहीं है। अब यही वह बीज है जो हमें हिंसा के रास्ते पर ले जा सकता है और कई बार तो ले भी जाता है। इसी तरह अगर हमें यह यकीन है कि मर्दों को औरतों पर अपनी मर्ज़ी थोपने का हक है जैसे कि वे क्या करें या क्या पहनें तो यह वर्चस्वकारी मर्दवादी सोच एक छोटा सा फासला तय कर शारीरिक हिंसा तक भी पहुंच जाती है।

बेशक यह बात सिर्फ मुसलमानों पर लागू नहीं होती। हिंदुस्तान में बहुत सारे हिंदू राष्ट्रवादी इसी भाषा में औरतों के लिए मुफ़ीद रवैये व कपड़ों के नुस्खे लिख रहे हैं। यहाँ से औरतों पर एसिड अटैक, बलात्कार और हत्याओं तक पहुँचना आसान हो जाता है। ऐसी सभी हिंसक घटनाएँ - चाहे प्रेमी द्वारा उस लड़की पर तेजाब डालना जिसने उसे मना करने की हिमाक़त की या देर शाम तक घूमने वाली या पेंट पहनने वाली किसी लड़की से बलात्कार या फिर किसी मुस्लिम अतिवादी द्वारा अपने बॉस का सर काट गेट पर टाँग देना। यह सब उसी सोच से प्रेरित है जो हमें यह सोचने, समझने की तमीज़ नहीं देती कि कोई दूसरा शख्स

अपने रवैये, कपड़े, आस्था वगैरह में हम से अलग हो सकता है। अतिवादी किस्म के लोग विभिन्नताओं को स्वीकार नहीं करते और अपने से भिन्न लोगों के खिलाफ हिंसक कार्रवाईयों करते हैं जबकि दूसरी ओर बहुत से धार्मिक और राष्ट्रवादी लोग इस अस्वीकार को ज़ाहिर नहीं करते, उसे दिल में दबा ही रहने देते हैं पर ये ही लोग और ये ही दिल अनजाने में असहिष्णुता की जड़ों में खाद-पानी डालते रहते हैं जिन पर अतिवाद के हिंसक फल लटकते हैं। अपने से अलग कुछ भी न स्वीकार कर पाना और बलात्कारी, दंगाई तथा धार्मिक चरमपंथी हिंसा को जोड़ने वाली लकीर बड़ी महीन है। यह जोड़ कभी दहशतनाक कार्रवाईयों में तब्दील होकर, बंदूक का घोड़ा नहीं दबा देता तो सिर्फ इसलिए कि वहाँ तक पहुंचने के रास्ते में कई समाजी, आर्थिक और राजनीतिक जोड़ घटाव होते हैं।

यह पश्चिम पर भी लागू होता है। फ्रांस, ट्यूनीशिया, कुवैत इन तीन इस्लाम प्रेरित हमलों से सिर्फ एक हफ्ते पहले एक और आतंकी हमला हुआ पर इस बार इसका संबंध इस्लाम से नहीं था। 17 जून की शाम अमेरिका के काले लोगों के सबसे पुराने चर्च (चार्ल्सटन, दक्षिण कैरोलिना) में नौ लोग मारे गए। पुलिस ने संदेह में एक शख्स को गिरफ्तार किया बाद में जिसकी शिनाख्त 21 वर्षीय डायलन रूफ के रूप में हुई। वह गोरा था।

दो अपराधिक घटनाओं को पुलिस ने एक साथ नहीं जोड़ा पर मेरे ज़ेहन में फौरन एंडसे ब्रेइविक का ख्याल आया। नार्वे का यह कुख्यात धुर दक्षिणपंथी आतंकवादी जिसने 2011 में नार्वे के एक वामपंथी पार्टी के लगभग 100 युवा समर्थकों को मार डाला था। ब्रेइविक ने इन वामपंथी नार्वेवासियों को नार्वे में मुसलमानों और काले प्रवासियों को आने देने का दोषी बताया था। उसके इस दहशतगर्दानी कार्रवाई का मकसद जवाबी हमला था।

ठीक इसी तरह डायलन रूफ अफ्रीकी-अमेरिकियों के प्रति अपनी घृणा से प्रेरित था। ये दोनों ही नस्ली गोरे युवक ईसाईयत की एक कट्टरपंथी धारा से प्रभावित थे। पश्चिमी मीडिया ने इस जुड़ाव को दर्ज नहीं किया। पर मुझे आश्चर्य होगा अगर मुझे ये पता चले कि रूफ ने ब्रेइविक के 'उदाहरण' से प्रेरणा नहीं ली थी, जैसे कि इस्लामी 'अकेले शेष पृष्ठ 22 पर

### उच्च शिक्षा के लिए कैसे अच्छे दिन!

■ ज़ोया हसन

राज्य से मिलने वाली आर्थिक मदद में कटौती अपने आप में एक चिंताजनक चीज़ है पर इसके आलावा भी भाजपा के नेतृत्व वाली वर्तमान सरकार का शिक्षा के प्रति पूरा रवैया स्वायत्तता, रचनात्मकता और विभिन्नता को नष्ट करने वाला है।

टाइम्स हायर एजुकेशन सप्लीमेंट के द्वारा तैयार की गयी श्रेष्ठ दो सौ विश्वविद्यालयों की सूची में एक भी भारतीय संस्थान को जगह नहीं मिली है। इन रैंकिंग उपक्रमों की सीमाओं को ध्यान में ना रखते हुए इतने निचले पायदान पर होने से अमूमन यही निष्कर्ष निकाला जाता है कि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भारत की स्थिति अच्छी नहीं है। हालाँकि रैंकिंग के फेर में न पड़ते हुए भी हम कह सकते हैं कि भारतीय विश्वविद्यालयों के साथ सब कुछ 'ऑल इज़ वेल' नहीं है।

अब तक नरेंद्र मोदी की सरकार ने उच्च शिक्षा के क्षेत्र में उपजे संकट को दूर करने के लिए कोई भी कदम नहीं उठाया है। बल्कि इस मसले में सरकार की शुरुआत ही विवादास्पद रही है। मानव संसाधन और विकास मंत्रालय के नेतृत्व के चुनाव ने इस निज़ाम के तहत शिक्षा को दिए जाने वाले महत्व पर गंभीर सवाल खड़े किये हैं वह भी बावजूद इसके कि संघ परिवार अक्सर ही शिक्षा को बेहद गंभीरता से लेने का दावा करता रहता है।

#### बजट में कटौती

इस सरकार का पहला बजट तो उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अच्छे दिनों का सूत्रपात करने में विफल रहा है। इस क्षेत्र के लिए रखे गए बजट से ₹. 3900 करोड़ की कटौती कर दी गयी है। याने 16,900 ₹. से सीधे 13000 करोड़ तक। शिक्षा पर होने वाले कुल व्यय में भी मोदी सरकार ने भारी कटौती की है, 82,771 ₹. से 69,074 ₹. तक। राष्ट्रीय उच्चतर शिक्षा अभियान, जो केंद्र द्वारा प्रायोजित योजना है, को आवंटित की जाने वाली राशि में भी भारी कटौती की गयी है। ज्ञात हो कि इस योजना को सन 2013 में चुने हुए प्रादेशिक उच्च शिक्षा संस्थानों को नीतिगत रूप से आर्थिक मदद देने के लिए शुरू किया गया था। जैसाकि ऊपर कहा गया है इस योजना के लिए भी प्रस्तावित आंकड़े 2200 करोड़ से अब यह संख्या 397 करोड़ तक घटा दी गयी है।

यह बात साफ़ है कि शिक्षा की जिम्मेदारी को निजी क्षेत्र के भरोसे छोड़ते जाने के बढ़ते ट्रेंड के बावजूद शिक्षा क्षेत्र में राज्य की आर्थिक मदद को और बढ़ाये जाने के आलावा और कोई विकल्प नहीं है। उच्च शिक्षा को ज्यादा से ज्यादा लोगों के लिए संभव बनाने में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका से कोई इंकार नहीं कर सकता।

उच्च शिक्षा व्यवस्था को एक लोक कल्याण की वस्तु मानते हुए भारतीय राज्य उन तबकों तक भी इसे पहुँचाने में सक्षम रहा है जो इससे दूर रहे हैं। यह तभी संभव है जब राज्य से पर्याप्त आर्थिक मदद मिले और स्कूल से लेकर विश्वविद्यालय तक सारी व्यवस्था का सार्वजनिक क्षेत्र के द्वारा संचालन हो। पर हो इसके ठीक उलट रहा है। शिक्षा क्षेत्र को और विशेषकर उच्च शिक्षा क्षेत्र को दी जाने वाली आर्थिक मदद लगातार कम की जा रही है ताकि निजी पूँजी, चाहे वह भारतीय हो या विदेशी, को बढ़ावा दिया जा सके। उच्च शिक्षा का निजीकरण अब भारत में एक निरंतर आगे की ओर मार्च करती हुई प्रक्रिया बनती जा रही है। अब ज्यादा से ज्यादा संस्थान निजी क्षेत्र के द्वारा स्थापित किये जा रहे हैं और इस परिदृश्य में सबसे ज्यादा मार कला और मानविकी के विषयों पर पड़ रही है।

#### केंद्रीकरण की तरफ बढ़ते कदम

राज्य से मिलने वाली आर्थिक मदद में कटौती अपने आप में एक चिंताजनक चीज़ है पर इसके आलावा भी भाजपा के नेतृत्व वाली वर्तमान सरकार का शिक्षा के प्रति पूरा रवैया स्वायत्तता, रचनात्मकता और विभिन्नता को नष्ट करने वाला है। जिस तरह से राज्य उच्च शिक्षा क्षेत्र में हस्तक्षेप कर रहा है वह शिक्षकों और विद्यार्थियों दोनों के लिए चिंता का विषय है। बहुत सारे ऐसे खतरनाक प्रस्ताव रखे जा रहे हैं जो उच्च शिक्षा की प्रकृति ही बदल डालेंगे। सबसे ज्यादा विचलित करने वाला प्रस्ताव सेन्ट्रल यूनिवर्सिटीज अधिनियम 2009 को पुनर्जीवित करने का है जिसके तहत देश के सभी केंद्रीय विश्वविद्यालयों को दाखिले की समान प्रक्रिया और एक समान पाठ्यक्रम अपनाना होगा। हालाँकि पहले की संप्रग सरकार और अब की एनडीए सरकार दोनों का उच्च शिक्षा क्षेत्र में परिवर्तन लाने का उतावलापन लगभग एक जैसा ही रहा है पर संप्रग सरकार की बहुत सी योजनाएं पंद्रहवीं लोकसभा के आखिरी सत्र तक बने गतिरोध का

शिकार हो गयीं और आगे नहीं बढ़ पायीं। साथ ही पिछली सरकार के भीतर ही इन योजनाओं को लेकर आम सहमति नहीं बन पायी थी जो कि एक और कारण है कि वह सरकार अपने एजेंडे को लेकर आगे नहीं जा सकी। पर वर्तमान सरकार अपने तथाकथित सुधार के एजेंडे को लेकर कहीं ज्यादा आक्रामक है और विद्रोह और असहमति को सिरे से कुचलने पर आमादा नज़र आती है।

सेन्ट्रल यूनिवर्सिटी (CU) अधिनियम देश के सभी विश्वविद्यालयों को एक अकेले अधिनियम से बदल देना चाहता है। इसके तहत सभी विश्वविद्यालयों को दाखिले की 'समान' प्रक्रिया और 'समान' पाठ्यक्रम का पालन करना होगा साथ ही शिक्षकों के तबादले का प्रावधान भी होगा। भारतीय उच्च शिक्षा व्यवस्था जोकि एक विशाल और आंतरिक रूप से बहुरंगी जनसंख्या के निमित्त खड़ी की गयी है, उसे आदर्श रूप में एक विकेंद्रीकृत और विविधतापूर्ण तंत्र का समर्थन करना चाहिए। हालाँकि होगा कुछ और ही जहाँ प्रस्तावित अधिनियम प्रत्येक विश्वविद्यालय की विशिष्टता को अनदेखा करते हुए केंद्रीकरण और एकरूपता को बढ़ावा देगा। प्रत्येक विश्वविद्यालय को स्थापित करने का अपना एक खास सन्दर्भ और प्रयोजन रहा है जिसकी वजह से इन सभी संस्थानों ने ज्ञान के उत्पादन और पुनरुत्पादन के अपने विशिष्ट तरीके विकसित कर लिए हैं। उदाहरण के लिए दिल्ली विश्वविद्यालय अधिनियम (1922) का प्रयोजन एक बढ़ते हुए राष्ट्र की शिक्षा की ज़रूरत को पूरा करना था इसलिए इसे ढेरों महाविद्यालयों के नेटवर्क के रूप में निरूपित किया गया। वहीं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के पीछे के आधार विचार अन्य संस्थानों से बहुत अलग हैं। जवाहरलाल नेहरू अधिनियम (1996) की प्रेरणा राष्ट्रीय समन्वय, वैज्ञानिक चेतना और मानवतावाद के मूल्यों और परिप्रेक्ष्य को एक सांस्थानिक रूप देना था। इन अधिनियमों ने इन संस्थानों की अकादमिक दृष्टि, पाठ्यक्रम, पठन-पाठन और शोध को आकार दिया है। इन्हें रद्दी के टोकरे में फेंक देने से विविधता और बहुउद्देशीयता को गहरा धक्का लगेगा और उस न्यूनतम स्वायत्तता पर भी आंच पहुंचेगी जिसके बिना एक विश्वविद्यालय के अस्तित्व का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यह नवीनता का तो दम घोंटेगा ही साथ ही एक ऐसी शिक्षण संस्कृति को भी बढ़ावा देगा जहाँ रचनात्मकता और विश्लेषणात्मक चिंतन के लिए कोई जगह नहीं होगी।

### कोई अकादमिक तर्क नहीं

मानव संसाधन और विकास मंत्रालय की 'सुधार' परियोजनाएं उच्च शिक्षा और शोध की विविधता को एक तराजू में तौल देने का खतरनाक प्रयास हैं। यह प्रयास इस मिथक पर आधारित हैं कि सभी केंद्रीय विश्वविद्यालयों

के लिए समान ढांचा बनाने से हर संस्थान में गुणवत्ता और कौशल का समान स्तर कायम होगा। पर यह समरूपता नए विश्वविद्यालयों और प्रादेशिक विश्वविद्यालयों, जोकि तथाकथित सुधारों के एजेंडे पर हैं, को किस तरह से फ़ायदा पहुंचाएगी ये ज़रा भी स्पष्ट नहीं है।

कुछ अच्छे विश्वविद्यालय जैसे जेएनयू, अम्बेडकर विश्वविद्यालय दिल्ली, इसलिए सफल हैं क्योंकि वे बहुविधता और विभिन्नता का मूल्य समझते हैं ताकि नवीनता और रचनात्मकता को बढ़ावा दिया जा सके। कई सारे विश्वविद्यालय भारत की अपूर्व विभिन्नता को अपने शिक्षक और विद्यार्थी समुदाय में प्रतिबिंबित करते हैं। और सबसे बढ़कर यह कि उनका अकादमिक विकास इसीलिए संभव हो पाया है क्योंकि हर जगह की पाठ्यक्रम दृष्टि और कोर्स संरचना इतनी अलग-अलग और विशिष्ट है। सीयू अधिनियम विश्वविद्यालयों के बीच शिक्षकों के तबादले की बात करता है। यह बात ज्ञात हो कि ऐसा दुनिया में किन्हीं संस्थानों के बीच नहीं होता है। इसके पीछे कोई अकादमिक तर्क नहीं दिखता। बल्कि इस 'अंतरण' के प्रस्ताव में बदले और प्रतिहिंसा का भाव अधिक नज़र आता है जहाँ प्रशासन स्वतंत्र और असहमत स्वयं को चुप कराने के लिए 'तबादला' को दंड के रूप में इस्तेमाल करेगा।

यह स्पष्ट है की सरकार केंद्र और राज्य दोनों स्तरों पर विश्वविद्यालयों को कड़े नियंत्रण में रखना चाहती है। इसीलिए मानव संसाधन और विकास मंत्री 'चॉइस बेस्ड क्रेडिट सिस्टम' (सीबीसीएस, विकल्प आधारित मूल्यांकन पद्धति) को लागू करने पर इतना जोर दे रही हैं जिसका भारत की शिक्षा व्यवस्था पर बेहद गंभीर प्रभाव पड़ेगा। आश्चर्य की बात है कि इसी प्रस्ताव पर एनडीए-1 में मानव संसाधन और विकास मंत्री रह चुके मुरली मनोहर जोशी ने सवाल खड़े किये थे। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने तो सीबीसीएस का मसविदा भी तैयार कर लिया है, मसलन एक सामान्य प्रवेश परीक्षा और एक केंद्रीय रैंकिंग व्यवस्था आदि, खुद अपने और सरकार के आश्वासनों को दरकिनार करते हुए कि बिना सभी सम्बंधित लोगों से सलाह-मशविरा किये वे कोई कदम नहीं उठाएंगे। एक समान पाठ्यक्रम ना तो अभीष्ट है ना तो संभव क्योंकि ये रचनात्मकता को कम करेगा और एक समान पैमाने तक लाने के लिए गुणवत्ता से भी समझौता करना पड़ेगा। हमें एक ऐसी विश्वविद्यालय व्यवस्था की ज़रूरत है जो विभिन्नता और विकेंद्रीकरण को बढ़ावा दे न कि जो सत्ता का केंद्रीकरण करे और उमंग रहित एकरूपता आरोपित करे। तब भी जब नयी राष्ट्रीय शिक्षा नीति को अनावृत्त करने की तैयारियाँ जोर-शोर से शुरू हो गयी हैं मंत्रालय के द्वारा किसी व्यापक बहस या सलाह

मशविरा की पहलकदमी होती नहीं दिख रही। आमूल-चूल परिवर्तनों की पहल की जा रही है और बिना जानकारों से सलाह मशविरा किये बगैर उन्हें थोपा जा रहा है बावजूद इसके कि केंद्रीय विश्वविद्यालयों में नयी शिक्षा नीति को लेकर और इसे थोपने को लेकर असंतोष और विद्रोह गहराता जा रहा है। अब तक मंत्रालय के द्वारा परामर्श लेने का एकमात्र कोशिश अपनी वेबसाइट पर कुछ सूचना डाल कर mygov.in के उच्च शिक्षा पर सर्वेक्षण में अपनी प्रतिक्रिया दर्ज कराने तक सीमित रहा है। इन “भारी सुधारों” पर अपनी प्रतिक्रिया देने के लिए जनता को केवल एक महीने का मौका दिया गया था। क्या शिक्षा व्यवस्था को बदलने का थोड़ा भी गंभीर प्रयास इतने बड़े परिवर्तनों को इस तरह से लागू करेगा?

### दक्षिणपंथी एजेंडा

समान पाठ्यक्रम की पहल को शिक्षा के भगवाकरण के सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए विशेषकर तब जबकि वर्तमान सरकार के एजेंडे की अगुवाई राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ कर रहा है। इसके बावजूद कि दक्षिणपंथी बुद्धिजीवी भारत के वर्तमान और अतीत का कोई विश्वसनीय आकलन नहीं प्रस्तुत कर सके हैं संघ परिवार शिक्षण पाठ्यक्रम को तोड़ने मरोड़ने के काम में लगा हुआ है ताकि समाज और इतिहास की मिथकीय और धार्मिक ग्रंथों से पैदा हुई समझ को सब पर थोपा जा सके। एक तरह से यह एक खुली छूट है कि इतिहास को मनचाही फंतासी के अनुसार ढाला जा सके। सरकार बनने के कुछ ही दिनों बाद आरएसएस ने मानव संसाधन और विकास मंत्री से मुलाकात की और नैतिक शिक्षा पर ज़ोर दिया साथ ही इस बात पर भी कि शिक्षण

संस्थानों में पढ़ाये जा रहे विकृत इतिहास को बदला जाये और स्वतंत्रोत्तर और स्वतंत्रता पूर्व भारत की विस्मृत विभूतियों पर ध्यान दिया जाये। आरएसएस के दीनानाथ बत्रा ने इस बात को दो टूक शब्दों में रखते हुए कहा कि : अब राजनीतिक परिवर्तन हो चुका है, अब पूरी शिक्षा व्यवस्था को बदला जाना चाहिए। ऐसा प्रकाश में आया है कि बत्रा की शिक्षा बचाओ आंदोलन समिति के कार्यकर्ता शिक्षा व्यवस्था के तथाकथित सुधार के लिए संस्तुतियाँ जुटा रहे हैं। उनका मानना है कि शिक्षा तंत्र में कुछ महत्वपूर्ण बदलावों की ज़रूरत है; मसलन भारतीय ज्ञान परम्पराओं पर अधिक ज़ोर और पाठ्यक्रम में भौतिक और आध्यात्मिक के मिलावट का प्रयास।

भाजपा नेताओं ने प्रत्यक्ष रूप से पाठ्यपुस्तकों और पाठ्यक्रम को बदलने की मंशा ज़ाहिर की है। संघ का व्यापक एजेंडा शिक्षा की अंतर्वस्तु में महत्वपूर्ण बदलावों और प्रतिष्ठित संस्थानों में अपने लोगों को बैठाने का है। इस तरह वे महत्वपूर्ण संस्थानों में जैसे, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थानों में, भारतीय ऐतिहासिक अनुसन्धान परिषद में, नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय में, भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद, और विभिन्न केंद्रीय विश्वविद्यालयों में अपने लोगों को बिठाकर, जो खुशी-खुशी इन सुधारों को आगे ले जायेंगे, इन संस्थानों को भीतर से नियंत्रित कर सकते हैं। इनमें से कई जन नीति को सीधे सीधे प्रभावित करेंगे और ऐसा उनकी अकादमिक काबिलियत की वजह से नहीं आरएसएस से उनकी नजदीकी की वजह से होगा।

अनुवाद - सौम्य मालवीय

## जहर मोहरा हिंसा के लिए

पृष्ठ 19 का शेष

भेड़िये’ (lone wolves) जो ISIS या किसी ऐसे ही समूह से बगैर किसी सीधे जुड़ाव के भी हर मुस्लिम चरमपंथियों द्वारा पहले किए गए हमलों से प्रेरणा पाते हैं।

ऐसे हमलों में सीधा जुड़ाव ढूँढ़ना एक बेकार की कोशिश है। ज़रूरत है कि सभी आस्थावानों के दिलों में झॉक कर देखा जाए : हिंदू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी या ऐसे मामले में राष्ट्रवादी या ऐसे आस्थावान अपने दिलों में झॉक कर देखें। अगर आप अपने दिल में विभिन्न विचारों, जीवन और आस्थाओं का नकार पाते हैं तो मेरा यकीन कीजिए - इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि आप अपनी वास्तविक जिंदगी में कितने अमन पसंद हैं। बल्कि आपका दिल वो

जगह है जहाँ से ऐसी सभी हिंसा के लिए वाजिब ज़मीन तैयार होती है।

हमारा दिल असहिष्णुता के एक या दो जहरीले कीटाणुओं से ग्रस्त है। इस ज़हर को खत्म करने वाले कई जहर मोहरा हैं - एक मर्द के लिए सबसे आसान पहुंच वाला ज़हर मोहरा है आपकी जिंदगियों में या आपके आसपास जो औरते हैं उन्हें नाइतफाकी रखने का हक दें। उन्हें क्या करना और क्या सोचना है, क्या पहनना और कैसे व्यवहार करना है ये आप न तय करें। यह काम उन पर छोड़ दें। इस ज़हर मोहरा की निश्चित खुराक हर घंटे लीजिए और शायद फिर एक दिन आप हिंसा की महामारी से ग्रस्त इस दुनिया को दुरुस्त कर पाएं।

द हिंदू से साभार

## नियमगिरि का पुनर्भ्रमण

■ आशीष कोठारी

ओडिशा स्थित नियमगिरी पहाड़ियों पर निवास करने वाले डोंगरिया-कौंध आदिवासी समुदाय ने न केवल बहुराष्ट्रीय कंपनी वेदांता को हाथ खींचने पर मजबूर कर दिया बल्कि उसकी पीठ पर हाथ रखने वाली सर्वशक्तिमान केंद्र व राज्य सरकारों को भी इस बात के लिए बाध्य कर दिया कि वे विकास के अपने दृष्टिकोण पर पुनर्विचार करें। वैसे तो लेखक पहली बार इस स्थान पर पहुंचे थे लेकिन यहां पर चल रहे संघर्ष का वृत्तांत जिस व्यापकता से लोकप्रिय हुआ है उससे जानकर उन्हें लगा कि वे यहां पहले भी आ चुके हैं। नियमगिरी के बांशियों के संघर्ष के पीछे छिपे अनमोल दर्शन की खोज उन्हें वहां खींच ले गई थी। प्रस्तुत है आशीष कोठारी का यात्रा वृत्तांत, जिसे हम सप्रेम से साभार प्रस्तुत कर रहे हैं।

नियमगिरी, जो कि इस इलाके में खनन पर उतारू बहुराष्ट्रीय कंपनी वेदांता और डोंगरिया कौंध आदिवासी समूह के मध्य ऐतिहासिक संघर्ष का गवाह है, वहां पहली बार मैं पिछले हफ्ते ही गया था। सवाल उठता है तो फिर मैंने इस लेख का शीर्षक “नियमगिरी पुनर्भ्रमण” क्यों दिया? वैसे यह बात अंशतः सच है, क्योंकि मैंने अपने साथियों से इसके बारे में इतना कुछ सुन रखा था कि मुझे महसूस होता था कि मैं वहां पहले जा चुका हूँ। इस स्थान को हॉलीवुड की फिल्म “अवतार” का सजीव संस्करण कहा जा सकता है। यहां पर भी लोगों ने वेदांता को बोरिया-बिस्तर बांधकर जाने पर मजबूर कर दिया है। लेकिन ये जीवंत किंवदंतियां अत्यंत सहज हैं और पिछले दिनों जब मैं वास्तव में नियमगिरी गया तो मेरा उद्देश्य खनन विरोधी संघर्ष से परे, इन किंवदंतियों से एक बार पुनः मिलना था।

ओडिशा के विशाल व सघन जंगलों और जलधाराओं के बीच कृषि की पुरातन पद्धति अपनाने वाले डोंगरिया कौंध समुदाय को भारत का “विशिष्ट संकटग्रस्त आदिवासी समूह” पुकारा जाता है। पहले इन्हें “आदिम” कहा जाता था और ये सांस्कृतिक, आर्थिक एवं पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण से सर्वाधिक संकटग्रस्त समूह है। परंतु उनका अपना एक वैश्विक दृष्टिकोण है और उनके पास सहस्रताब्दियों पुरानी पद्धतियां मौजूद हैं। इसके अलावा उनके पास ज्ञान का अकूत भंडार एवं प्रकृति से ऐसा जीवंत रिश्ता मौजूद है, जिसे अनेक कथित “सभ्य” लोग भूल चुके हैं। डोंगरिया कौंध उस सबका प्रतीक है, जिसे कि भारतीय राज्य एवं शहरी शिक्षित वर्ग इसलिए “पिछड़ा” कहता है क्योंकि उनके यहां साक्षरता व तकनीक का सामान्य स्तर अनुपस्थित है, वे झूम खेती करते हैं, जीववाद को मानते हैं, वहां अस्पताल और विद्यालयों का अभाव है, गांव पहुंचने के रास्ते कच्चे हैं, बिजली नहीं है, आदि-आदि। परंतु ऐसे तमाम चरितगत सारे मापदंडों को ठेंगा दिखाते हुए उन्होंने एक ऐसे निजी बहुराष्ट्रीय निगम पर विजय प्राप्त की है, जिसके पास सभी “सभ्य” शक्तियां मौजूद थीं। कुछ समय से हमारे कानों में पुनः यह बात पड़ रही है कि वेदांता कंपनी को उक्त आदेश को रद्द कराने की उम्मीद पुनः जग गई है,

क्योंकि दिल्ली में कांग्रेस से भी ज्यादा कारपोरेट हितैषी सरकार ने पदभार ग्रहण कर लिया है। परंतु डोंगरिया कौंध सतर्क हैं और उन्हें पूरा विश्वास है कि वह अभी भी कंपनी को किसी भी तरह के खनन की अनुमति नहीं देंगे।

मैं कल्पवृक्ष संस्था के अपने सहयोगियों के साथ इसलिए नियमगिरी गया था (एक महान संघर्ष की पुण्यस्थली के भ्रमण के अलावा) कि मैं विकास और कल्याण के संबंध में डोंगरिया कौंध समुदाय के विचार समझ पाऊं। जाहिर है उन्होंने खनन को तो अस्वीकार कर दिया है, लेकिन क्या उन्होंने विकास की धारणा को ही निरस्त कर दिया है? क्या वे कह रहे हैं कि वे प्रसन्न थे और उन्हें अकेला छोड़ दिया जाए? क्या वे “बाहर” से आने वाली प्रत्येक वस्तु को अस्वीकार कर रहे हैं या उनमें से कुछ को यानि सरकारी योजनाएं अपनाना चाहते हैं? क्या उनके समुदाय के भीतर युवाओं और महिलाओं में इसे लेकर कोई भिन्न विचार है?

कुछ पारंपरिक एवं संघर्ष के नेताओं के साथ सुंदर स्थानों पर बसे अनेक डोंगरिया कौंध गांवों से गुजरते हुए महसूस हुआ कि खनन को अस्वीकार करने के पीछे उनके पास सशक्त आध्यात्मिक एवं औचित्यपूर्ण आधार मौजूद हैं। उस क्षेत्र के आध्यात्मिक स्रोत नियम राजा द्वारा बनाए गए नियमों में शामिल हैं। वनों एवं नदियों का संरक्षण बजाए व्यक्तिगत संपत्ति के संसाधनों का साझा स्वामित्व, श्रम एवं फलों की हिस्सेदारी व जैव संस्कृति उनके पास उपलब्ध धार्मिक एवं गैरधार्मिक तत्वों का गुलदस्ता है। इस तरह की स्थिति में खनन एवं बड़ी सड़कें और कारखाने जैसा विशाल आक्रामक विकास एक वर्जित शब्दभर है। लड्डोसिकाका, बारी पिडिकाका एवं डाधी पुसिकावेरे जैसे नेता इस बात को लेकर सुनिश्चित थे कि वे नियमगिरी को मुनिगुडा, रायागाधा और भुवनेश्वर जैसे शहर में परिवर्तित नहीं करना चाहते जहां पर कि बिना बीमार पड़े न तो आप पानी पी सकते हैं न ही सांस ले सकते हैं, जहां पर बाहर जाते समय लोगों को घरों में ताले लगाना पड़ते हैं और जहां महिलाओं को रोजाना परेशान किया जाता हो। वे जानते हैं कि उनके क्षेत्र में सड़क निर्माण का अर्थ है शोषणकारी शक्तियों का प्रवेश जिससे उनके पर्यावरण एवं संस्कृति दोनों को ही खतरा पैदा होगा। उन्हें इस बात का भी भान है कि वन अधिकार अधिनियम के माध्यम से व्यक्तिगत भूखंड प्राप्त करने का अर्थ है व्यक्तिवाद को बढ़ावा एवं वनों की नए सिरे से कटाई। समुदाय ने मांग की है कि संपूर्ण क्षेत्र को वन कानून के अंतर्गत प्राकृतिक वास क्षेत्र के रूप में मान्यता दी जाए और नियम राजा के नाम से इस हेतु एक ही स्वत्व (स्वामित्व) अधिकार पत्र जारी किया जाए। उन्हें उम्मीद है कि इस तरह से वह विध्वंसकारी ताकतों को इलाके से बाहर रख पाने में सफल होंगे।

दुर्भाग्यवश पहले भी इस तरह के आक्रमण हो चुके हैं और इनमें से कई तो काफी कपटपूर्ण भी थे। शासन द्वारा सद्दृष्टि से लेकिन

पूर्णतया अव्यावहारिक “कल्याण” योजनाएं (डोंगरिया कौंध विकास एजेंसी जैसी संस्थाओं के माध्यम से) आदिवासियों को “सभ्यता” के लाभ प्रदान करने हेतु तैयार की गई हैं। यहां के बहुत कम गांवों में विद्यालय कार्यरत हैं। अतएव आदिवासी बच्चों को आश्रमशालाओं में भर्ती किया जाता है जहां पर उन्हें ओडिया भाषा में शिक्षा दी जाती है। जबकि डोंगरिया कौंध एक सर्वथा पृथक “कुई” बोली बोलते हैं। आदिवासी संस्कृति को प्रभुत्वशाली मुख्यधारा से बदला जा रहा है और उनके भीतर यह भावना घर कर आई जा रही है कि “आदिम” आदिवासी जीवन को तुरंत प्रभाव से आधुनिक विकास से बदला जाना आवश्यक है।

भुवनेश्वर का एक जाना माना शिक्षा संस्थान, जिसकी पीठ पर अनेक राजनीतिज्ञों एवं वैज्ञानिकों का भी हाथ है, ने पूरे ओडिशा से हजारों आदिवासी बच्चों को वहां लाकर शिक्षा देना प्रारंभ कर दिया है जबकि तथ्य यह है कि इसमें बड़े पैमाने पर उन कारपोरेशनों से धन आ रहा है जो उस इलाके में खनन व कारखाने स्थापित करना चाहते हैं। क्षेत्र में कार्यरत रहे कार्यकर्ता इस बात पर आश्चर्यचकित हैं कि यह शिक्षा है या यहां पर उनके दिमाग को बदला जा रहा है।

राज्य के पीछे-पीछे अब वहां बाजार भी घुसने लगा है। कुछ ही समय पूर्व तक डोंगरिया कौंध अर्थव्यवस्था पूर्णतया गैर मुद्रा आधारित थी, क्योंकि वे वस्तु विनिमय (बार्टर) के आधार पर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति वनों, खेतों और नदियों से कर लेते थे। आदिवासी जो भी थोड़ा खरीदते हैं, जैसे कपड़े, नमक या कभी कभार बली प्रदान के लिए भैंसे अब अत्यंत महंगे हो गए हैं और उन्हें धन की अधिक “आवश्यकता” पड़ने लगी है। यदि आप सुबह मुनिगुदा के कोने पर खड़े हों तो आप देखेंगे कि आदिवासी महिलाएं पैदल एवं पुरुष सायकिल पर बेचने के लिए जलाऊ लकड़ी व अन्य वन एवं कृषि उत्पाद लाते दिखे जाते हैं। चूंकि वे अपनी वस्तु वापस नहीं ले जा सकते अतएव अक्सर उन्हें अपने उत्पाद बाजार भाव से कम पर बेचकर जाना पड़ता है। भारत में आदिवासियों का बाजार से सामना उनके लिए हमेशा हानिकारक ही सिद्ध होता है।

अंत में उनका सामना होता है पुलिस एवं अन्य सुरक्षा बलों के आक्रमण से। इस क्षेत्र में नक्सलवादी गतिविधियां भी जारी हैं, इसके साथ खनन विरोधी हड़ताल के चलने से सरकार को समय-समय पर पुलिस बल भेजने का कारण भी मिल जाता है। आदिवासी नेताओं और उनके समर्थकों दोनों से लगातार पूछताछ होती रहती है और उन पर आतंकवाद सहित अनेक मुकदमों कायम कर दिए जाते हैं। उनके यहां तलाशी होती है और ऐसे अनेक तरीके प्रयोग में लाए जाते हैं, जिससे कि वे अपने ही घर में खुद को बेगाना महसूस करने लगते हैं। डोंगरिया कौंध समुदाय विशेषकर आंदोलन के नेता इन मुद्दों को लेकर जागरूक हैं लेकिन उनमें इस बात को लेकर अस्पष्टता है कि इन मामलों से निपटा कैसे जाए।

अपने घरों की छतों पर बेतुकी लोहे की छत (टीनें) का बढ़ता प्रयोग (हालांकि दीवारें अभी भी मिट्टी की ही हैं) उनके भटकाव का संकेत है। वे इस बात की शिकायत करते हैं कि इन छतों से उनके घर गर्मियों में अत्यधिक गरम हो जाते हैं। यह पूछने पर कि उन्होंने

अपनी पारंपरिक छतों को टीन की छतों से क्यों बदला? तो उनका जवाब था, “क्योंकि सरकार ने लोहे की छत दी।” यही उत्तर उन्होंने तब भी दिया जब उनसे पूछा कि वे सफेद चावल क्यों खाने लगे हैं जबकि उनके पास स्थानीय मोटे खाद्यान्न और अन्य खाद्यान्न मौजूद हैं। उन्होंने पुनः स्वीकार किया कि यह उन्हें मुफ्त मिल रहा है, जबकि वास्तव में उनके यहां पारंपरिक खाद्यान्नों की कमी नहीं है। हमारे इस प्रश्न का उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया कि विनिमय के लिए धन का बढ़ता प्रयोग क्या उनके लिए समस्या खड़ी कर रहा है?

लड्डो सिकाका ने अपने बेटे को विद्यालय से भाग जाने के बाद वहां से निकाल लिया था, क्योंकि उसे वहां अकेले पड़ जाने का डर सताने लगा था। जबकि अन्य कई डोंगरिया कौंध परिवारों ने इस हताशा भरी उम्मीद में अपने बच्चों को विद्यालय भेजना जारी रखा हुआ है कि उनके बच्चों का भविष्य उज्ज्वल हो जाएगा। जबकि अनेक लोगों का कहना है उनकी प्राथमिकता तो यही है कि गांवों में ही विद्यालय हों जिसमें डोंगरिया कौंध शिक्षक कुई भाषा में ही पढ़ाएं एवं वन व कृषि आधारित शिक्षण को इसमें शामिल किया जाए।

खनन विरोधी हड़ताल का एक सकारात्मक योगदान है नियमगिरी सुरक्षा समिति, जिसने सभी डोंगरिया कौंध बसाहटों को एक कर दिया है। समिति अन्य मुद्दे भी उठाती है, जैसे क्षेत्र में अवैध शराब बनाने के खिलाफ कार्यवाही एवं अन्तरगांव या अन्तर कुल (गोत्र) संबंधी विवादों का निपटारा। यह एक ऐसा मंच है जो कि आदिवासियों को परेशान करने वाले मामले उठाने को हमेशा तैयार रहता है। गैर सरकारी संगठन वसुंधरा के सहयोग से वन अधिकार अधिनियम के अंतर्गत बसाहट के अधिकार का दावा व योजना निर्माण भी एक महत्वपूर्ण अवसर सिद्ध हो सकता है। छोटी सी यात्रा के माध्यम से एवं आदान-प्रदान से हम किसी भी सूरत में उन जटिल प्रश्नों के साथ न्याय नहीं कर सकते जो कि हम पूछना चाह रहे थे। परंतु हम इस छोटी सी यात्रा के बाद इस बात पर पूरी तरह सहमत हो गए थे कि एक स्थान और वृत्तांत दोनों ही लिहाज से नियमगिरी का पुनर्भ्रमण आवश्यक है। डोंगरिया कौंध द्वारा अपने अतीत और वर्तमान की समझ के साथ अपने भविष्य के निर्धारण को समझने के लिए गहरी सहानुभूति और समझ की आवश्यकता है। कोई भी बाहरी व्यक्ति ऐसा तभी महसूस कर सकता है, जबकि वह वास्तव में उनका बहुत ख्याल रखता हो का वृत्तांत ताकतवर है और यह कायम रहेगा तथा प्रेरणा भी देता रहेगा, परंतु यह परिपूर्ण नहीं है। बाजार और राज्य दोनों ने प्रवेश कर लिया है, जो आज उनके चेहरे पर साफ दिखाई दे रहा है और उससे छुटकारा पाना भी उनके लिए अत्यंत कठिन है।

आवश्यकता इस बात की है कि डोंगरिया कौंध व नागरिक समाज तथा सरकार के बीच सुविचारित साझेदारी हो जो कि इस बात का रास्ता खोजे कि उनके सामने प्रस्तुत कठिन डगर से वे कैसे पार पाएं। साथ ही वह बकाया विश्व को इस तरह से प्रेरित व शिक्षित करते रहें कि किस तरह अंततः प्रकृति की गोद में जीवन बिताया जा सकता है।

**isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी**

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26177904, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904, ईमेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए